ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

137

सबलोग

मार्च 2025 • ₹ 50

आधुनिकता, संस्कृति और बाजार

- संरचनात्मक जटिलताओं में स्त्रीप्रश्न
- अवैध आप्रवासन का खतरनाक मायाजाल
- नये राजनीतिक इतिहास की जरूरत

साहित्यिक पत्रकारिता के तीन दशक

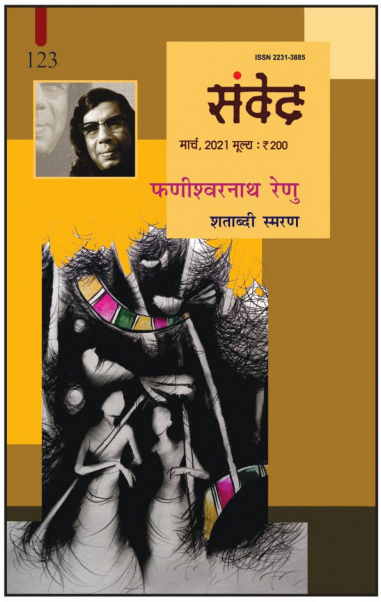

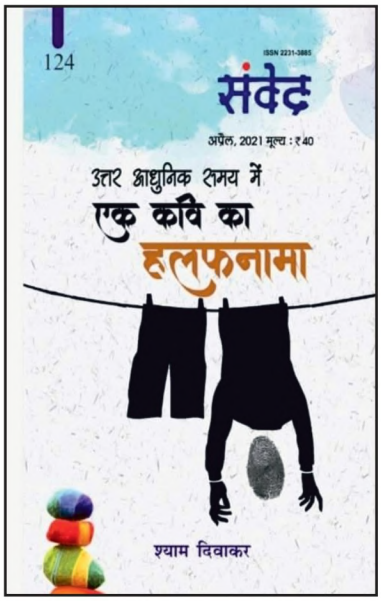

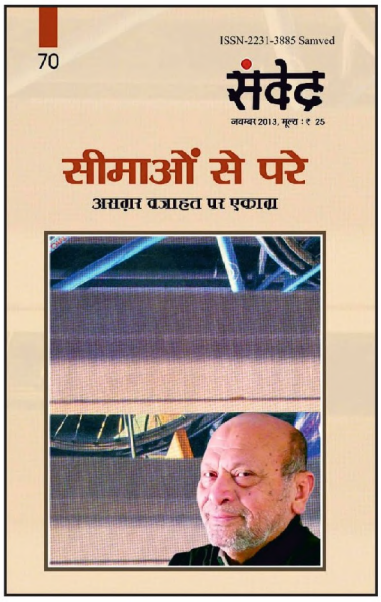

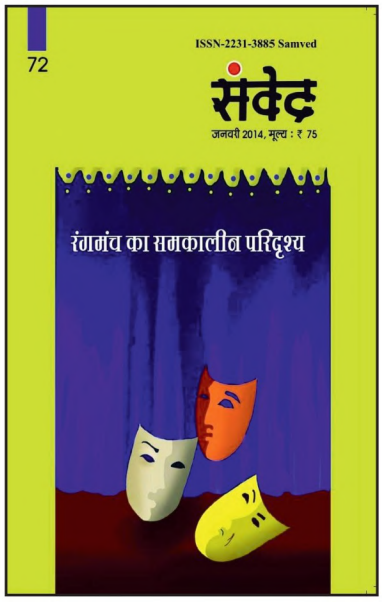

सम्पादक
किशन कालजयी

एक अंक : पचास रुपये
विशेषांक : दो सौ रुपये

B-3/44, Sector-16, Rohini, Delhi-110089
+91 8340436365
linkedin.com/company/samvedindia
samved.sablog.in
facebook.com/samvedmasik
samvedmonthly@gmail.com
twitter.com/samvedindiaInstagram
instagram.com/samvedindia

सबलोग-137

वर्ष 16, अंक 3, मार्च 2025

ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL
www.sablog.in

सम्पादक
किशन कालजयी

संयुक्त सम्पादक
प्रकाश देवकुलिश
राजन अग्रवाल

उप-सम्पादक
गुलशन चौधरी

ब्यूरो
उत्तर प्रदेश : शिवाशंकर पाण्डेय
बिहार : कुमार कृष्णन
झारखण्ड : विवेक आर्यन

समीक्षा समिति (Peer Review Committee)
आनन्द कुमार
रत्नेश्वर मिश्र
मणीन्द्र नाथ ठाकुर
मंजु रानी सिंह
सफदर इमाम कादरी
प्रमोद मीणा
राजेन्द्र रवि
मधुरेश
महादेव टोप्पो
विजय कुमार
आशा
सन्तोष कुमार शुक्ल
अखलाक 'आहन'
अभय सागर मिंज

सम्पादकीय सम्पर्क
बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,
रोहिणी, दिल्ली-110089
+ 918340436365
sablogmonthly@gmail.com

सदस्यता शुल्क
एक अंक : 50 रुपये–वार्षिक : 600 रुपये
रजिस्टर्ड डाक खर्च समेत 1100 रुपये

सबलोग
खाता संख्या-49480200000045
बैंक ऑफ बड़ौदा,
शाखा-बादली, दिल्ली
IFSC-BARB0TRDBAD
(Fifth Character is Zero)

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिण्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक।
पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायक्षेत्र दिल्ली।

संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन

आधुनिकता, संस्कृति और बाजार

विसंगति और विडंबना के दौर में : **सेवाराम त्रिपाठी** 4
आधुनिकता और भूमण्डलीकरण : **राजाराम भादू** 7
मरीचिकाएँ और उम्मीद की लालटेन : **ईश्वर सिंह दोस्त** 11
आधुनिकता के अन्तर्द्वन्द्व : **सुनीता सृष्टि** 13
अपसंस्कृति और उभरता बाजारवाद : **किरण मिश्र** 16
संस्कृति, बाजार और गाँधी : **श्वेता कुमारी** 18

सृजनलोक

तीन कविताएँ : **उपांशु,** टिप्पणी : **हृषीकेश सुलभ,** रेखांकन : **नूपुर अशोक** 20

विशेष लेख

संरचनात्मक जटिलताओं में स्त्रीप्रश्न : **सुप्रिया पाठक** 22

राज्य

बिहार / समसामयिक राजनीति और नदियों के सवाल : **राहुल यादुका** 26
झारखण्ड / पेसा पर बहस के आयाम : **विवेक आर्यन** 28
हरियाणा / डंकी रूट की कड़वी हकीकत : **अजय सिंह** 31

स्तम्भ

चतुर्दिक / लोकतन्त्र और संविधान की चिन्ता किसे है : **रविभूषण** 33
तीसरी घण्टी / जन्मशती पर लगा सत्ता का ग्रहण : **राजेश कुमार** 37
यत्र-तत्र / कविता में बस्तर : **जय प्रकाश** 40
देशान्तर / अवैध आप्रवासन का खतरनाक मायाजाल : **धीरंजन मालवे** 43
परती परिकथा / नये राजनीतिक इतिहास की जरूरत : **हितेन्द्र पटेल** 45
कविताघर / शम्बूक, तुम्हारा रक्त एक दिन फूटकर बाहर आएगा : **प्रियदर्शन** 48

विविध

जन गण मन / उच्च शिक्षा में सुधार की दिशा : **रसाल सिंह** 50
साहित्य / कृष्णा सोबती का स्त्री-विमर्श : **कुमारी उर्वशी** 53
शहरनामा / क्यूर-ट्रांस की अलग-अलग कहानी : **ममता** 56
संस्कृति / विकास के बरक्स आदिवासी संस्कृति : **सुखराम मुजाल्दे** 59
आयोजन / सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का अभियान : **रूपेश कुमार यादव** 60
सिनेमा / भेदभाव से जंग : **रक्षा गीता** 62
पुस्तक समीक्षा / संवाद की परम्परा का महत्त्वपूर्ण अध्याय : **दिव्यानन्द** 65
लिए लुकाठी हाथ / यदा-यदा ही धर्मस्य : **श्रीकान्त आप्टे** 66
रंगसाज / आग और मिट्टी के साथ आकार : **देव प्रकाश चौधरी** 67
आवरण : **शशिकान्त सिंह**

अगला अंक : कृत्रिम मेधा की चुनौतियाँ

आवरण कथा

विसंगति और विडम्बना के दौर में

सेवाराम त्रिपाठी

आधुनिकता, संस्कृति और बाजार को हमें जमाने के क्रूर, संवेदनाहीन और त्रासद स्थितियों के रूप में देखना चाहिए। यह है हमारे जमाने और समय का दुर्दान्त और खूँखार चेहरा। आधुनिकता बुरी नहीं होती और न ही संस्कृति। इन्हें हर तरह की सत्ताएँ कैसे इस्तेमाल करती हैं, यह इस पर निर्भर है। यह सब कुछ सत्ताओं के झूठे गुमान पर भी अवलम्बित है। हाँ, बाजार की दुनिया अलग है। उसकी असलियत और कारगुजारियाँ अलग हैं। जाहिर है कि हम आधुनिकता, संस्कृति और बाजार को कट्टरता, कठोरता, लूट-खसोट और अपार घृणा के रूप में विकसित होते हुए लगातार देख रहे हैं।

लेखक वरिष्ठ साहित्यकार हैं।
+919425185272
sevaramtripathi@gmail.com

''मानव जाति का आध्यात्मिक विकास जितना आगे बढ़ता है, उतना ही मुझे निश्चित लगता है कि वास्तविक धार्मिकता का वास्ता जीवन-मरण के भय और अन्धविश्वास से होकर नहीं जाता, बल्कि तर्क-सम्मत ज्ञान के संघर्ष से होकर जाता है।'' (अल्बर्ट आइंस्टीन)

विज्ञान ने अनेक सुविधाएँ उपलब्ध करा दीं। कुछ आस्थावानों ने, कुछ धर्म के मानने वालों ने कितनी दिक्कतें उठाते हुए महाकुम्भ में डुबकी लगायी। कुम्भ मेले की भगदड़ में जिनकी मौतें हुईं, उस पर कोई अफसोस नहीं जताया गया। कुछ जमे-जमाये तथाकथित धर्म के ठेकेदारों ने इसे भी लोक लिया। नारेबाजी देखें एक–'जो गंगा नहीं नहाएगा वो देशद्रोही है' दूसरा–भीड़ की भगदड़ में मरे लोगों के बारे में प्रचारित किया गया।' 'गंगा किनारे कोई मरेगा, वो मोक्ष पाएगा' न मरने वालों के प्रति कोई संवेदना है और न कोई अफसोस। एक विशेष प्रकार का आध्यात्मिक दिखावा जरूर सनसना रहा है। यह एक विडम्बना है– कहकर इसे हँसी में टाला भी नहीं जा सकता। संस्कृति का दिन-रात क्षरण निर्लज्जता और बाजार बनने के दौर में है। तथाकथित नारों के सन्दर्भ में जो प्रतिक्रियाएँ आयीं, वो क्षोभ प्रकट करती हैं। ऐसे प्रसंगों को गर्हित और निर्लज्ज मानती हैं लेकिन इस खोल के भीतर सत्ता-व्यवस्था का जो चेहरा छिपा हुआ है, वो सत्ता-व्यवस्था के अन्तर्विरोधों और मार्केटिंग का ही खूँखार चेहरा है। जिसमें अपनी असलियत को ढँकने की क्रूर कोशिश के रूप में इसे विकसित होते हुए देखा जा सकता है। कहना जरूरी है कि भाग्यवाद के कमण्डल में मोक्ष प्राप्त करने की और पुण्य कमाने की अनन्त दलीलों, सम्भावनाओं के साथ स्वर्ग का प्रवेश द्वार पाने का सपना भी देखा-दिखाया जा रहा है।

आध्यात्मिकता और असली धार्मिकता जब सूखे और कोरे कर्मकाण्ड में बदलने लगती है तब विज्ञान का जरूरी तौर पर संघर्ष, हस्तक्षेप और ज्यादा बढ़ जाता है। जाहिर है कि अन्धविश्वासों, पाखण्डों का उपयोग हमें जड़ता की ओर ले जाने की हमेशा कोशिश करता है। अब तो भारत ही नहीं प्रायः समूची दुनिया मूल्यों, आचरणों, नैतिकताओं, आदर्शों, ईमानदारी और मानवीयताओं से रिक्त होती जा रही है। हालाँकि जीवन और जीवन-मूल्यों को और हमारे समाज और समय को जड़ताओं, क्रूरताओं, कट्टरताओं और लम्पटताओं की गहरी खाई में फेंक दिया जाता है। हमारे समय में साम्प्रदायिक शिल्पकारों और कूढ़-मगज मनोविज्ञानियों की तादाद बढ़ती ही चली जाती है। उनकी चतुराईपूर्ण कार्रवाइयों ने जीवन-मूल्यों, नैतिकताओं और प्रविधियों का समूचा रस सोख लिया है। यह हम सभी के लिए विशेष चिन्ता की बात है।

बाजार का सर्वग्रासी रूप हमारे सामने है। हमारी सभ्यता, संस्कृति, सामाजिकता, साहित्य, कलाएँ, धार्मिकता, अस्मिता,

आकांक्षा, जिजीविषा, जीवन-मूल्य, संवेदनाएँ, राजनीति और अन्य माध्यम भी उसके संजाल और मोहपाश में आबद्ध हैं। बाजार अपने एक निश्चित एरिया भर में नहीं है बल्कि वो हमारे सामाजिक जीवन, घर-परिवार और बेडरूम तक पहुँच चुका है और तयशुदा बात है कि उसका तीव्र आकर्षण प्रायः सभी को बाँध लेता है। बहुत थोड़े से ही लोग बच पाते हैं, लेकिन उसके दबाव बने रहते हैं।

आधुनिकता, संस्कृति, सामाजिकता, धार्मिकता और साहित्य में पूरी तरह से बाजार फैल चुका है। क्या-क्या नहीं बिक चुका है और जिनके पास थोड़ा-सा जमीर, प्रतिबद्धता, साहस-संकल्प और प्रतिरोध बचा है, वे ही अनेक दिक्कतों में होने के बावजूद लगातार मुठभेड़ और मुकाबला कर पा रहे हैं। बाकी तो केवल तमाशबीन बने हैं। मुँह बाये खड़े हैं। प्रदर्शनों की होड़ लगी है। मेरी समझ में आधुनिकता और संस्कृति कोई पिकनिक स्पॉट नहीं हैं। यह कोई सैर करने का इलाका भी नहीं है। ज्यादातर लोगों को मैंने आधुनिकता को प्रदर्शित करते हुए ही देखता रहा हूँ। प्रायः सभी अपने अहंकार को ही उजागर करते हुए ही मिलते हैं। आधुनिकता जीवन-मूल्यों की वास्तविकता और प्रविधि में नहीं होती। ऐसा लगता है जैसे आधुनिकता का एक विशेष किस्म का हाँका पड़ा है। आधुनिकता के बरअक्स एक प्रश्न मुझे बार-बार मथता है कि एक खास किस्म के अन्धराष्ट्रवाद, धार्मिक कठमुल्लेपन और साम्प्रदायिक उन्माद की गतिविधियों के साथ एक वर्चस्ववादी मानसिकता ने मुसलमानों को घृणा का पात्र-भर नहीं बनाया बल्कि अछूत और त्याज्य भी बना दिया है। हमारी बहुआयामी अस्मिता बहुसंख्यकों के हित-साधन के चहले में डूब रही है। यह जो निरन्तर पुख्ता होता जा रहा सांस्कृतिक सुभीते में यात्रा कर रहा बाजारवाद है। यह फासीवाद, कर्मकाण्डवाद और तानाशाही मनोविज्ञान का विशिष्ट रूप है। यह हमारे समय में आधुनिकताबोध के साये में विस्तार पाता हुआ खंजर ही है, जो प्रगतिशील जीवन-मूल्यों को दफनाने में लगा है। इसलिए संवेदनहीनता की पैशाचिक छलनाओं में क्रूरता और नफरत के साथ काबिज होता जा रहा है।

आधुनिकता, संस्कृति और बाजार का क्षेत्र सीमित नहीं है बल्कि बहुत व्यापक भी है। उसके परिप्रेक्ष्य और परिक्षेत्र को कम नहीं समझा जाना चाहिए। इसकी सीमा केवल भारत-भर में नहीं है बल्कि समूची दुनिया के बड़े-बड़े इलाकों तक पहुँच चुकी है। आधुनिकता के नाम पर, संस्कृति के नाम पर और बाजार के नाम पर इतनी ठगी की गयी है और अनवरत ठगी की जा रही है, वह सब कुछ हमारे-आपके सामने है। यथार्थ का अपहरण कर लिया जाता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता और जिजीविषा को खत्म करने के अवाध प्रयास होते हैं।

आधुनिकता और संस्कृति सचमुच में बड़े मोहक शब्द हैं। दोनों में बड़ा आकर्षण होता है। संस्कृति की हवाएँ हमें शक्तिवान बनाती हैं और जीने का राग पैदा करती हैं। यह एक विश्व-स्तर का फेनामिना है। देखने में तीनों अलग-अलग हैं लेकिन कार्रवाई में एकदम एक-दूसरे के पूरक और आपस में गुँथे-बिंधे हैं। वर्तमान समय में ये विद्रूपों से युक्त भी हो गये हैं बल्कि एक-दूसरे के मददगार। चेहराविहीन कबन्ध की तरह होते हुए भी स्वार्थों के भयानक संजाल में हैं। इन्होंने अवसरवाद की छायाओं में, अपने-आपको स्वार्थपरताओं के लिए शक्तिशाली बनाया है। आधुनिकता का एक बाना है। उसका विशेष अर्थ और सन्दर्भ है। उसका कई तरह से इस्तेमाल हो रहा है और प्रकटीकरण भी। हमारा वर्तमान समय अतीत की तुलना और परिप्रेक्ष्य में आधुनिक ही होता है। मुझे तो विचारक टायनबी का यह कथन डराता भी है लेकिन सावधान भी करता है कि ''भविष्य में और भी पूर्ण ज्ञान और माध्यम से सम्पूर्ण संसार एक ही सभ्यता के सूत्र में बँध जाएगा।''

आधुनिकता, संस्कृति और बाजार को हमें जमाने के क्रूर, संवेदनाहीन और त्रासद स्थितियों के रूप में देखना चाहिए। यह है हमारे जमाने और समय का दुर्दान्त और खूँखार चेहरा। आधुनिकता बुरी नहीं होती और न ही संस्कृति। इन्हें हर तरह की सत्ताएँ कैसे इस्तेमाल करती हैं। यह इस पर निर्भर है। यह सब कुछ सत्ताओं के झूठे गुमान पर भी अवलम्बित है। हाँ, बाजार की दुनिया अलग है। उसकी असलियत और कारगुजारियाँ अलग हैं। जाहिर है कि हम आधुनिकता, संस्कृति और बाजार को कट्टरता, कठोरता, लूट-खसोट और अपार घृणा के रूप में विकसित होते हुए लगातार देख रहे हैं। सत्ता-व्यवस्था की भूख का कोई अन्त नहीं होता, जिसकी सीमाओं का ढंग से निर्धारण भी नहीं किया जा सकता। और न कोई ऐसा फार्मूला दिखाई पड़ता है कि इसे परिवर्तित किया जा सके। इसके कहर को सीमित किया जा सके। तथ्य यह है कि इसे किसी सिद्धान्तबाजी में नहीं बल्कि होशो-हवास में देखने की आवश्यकता है। आधुनिकता, संस्कृति और बाजार की विरुदावली का अखण्ड गायन जारी है। नाम चाहे जो दे दीजिये। नाम देने से कोई खास फर्क नहीं पड़ता। क्रूरता, नफरत और असंवेदनशील मुस्कुराहटों में उनकी यश-पताकाएँ फहरा रही हैं। मुक्तिबोध की कविता की ये पंक्तियाँ पढ़िये–''साम्राज्यवादियों के/ पैसों की संस्कृति/ भारतीय आकृति में बँधकर/ दिल्ली को/ वाशिंगटन व लन्दन का उपनगर/ बनाने पर तुली हैं !/ जन-राष्ट्र लोकायन/ जन मुक्ति आन्दोलन/ के सिद्धहस्त विरोधी/ ये साम्राज्यवादियों की पाँत में ही बैठे हैं/ शान्ति के शत्रुओं का प्राणायाम साधकर/ जनता के विरुद्ध घोर अपराध कर/ फाँसी-फाँसी के फन्दे की रस्सी से ऐंठे हैं।''

मैं आधुनिकता को जीवन के विकास के लिए बहुत जरूरी मानता हूँ। लेकिन वह आधुनिकता न तो केवल उत्साही हो और न किसी प्रकार मूल्यविहीन। आधुनिकता नदी के बहाव की भाँति होती है। आधुनिकता का काम मात्र जोश से नहीं चलता बल्कि उसका व्यवहार होश के द्वारा ही सहज सम्भव हो सकता है। आधुनिकता को आत्मसात करना शीघ्र ही नहीं होता। आधुनिकता का रास्ता अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और सड़ी-गली चीजों को त्याज्य करने से ही हो सकता है। आधुनिकता अतीत की छाती पर चढ़कर आती है। उसमें विवेक का बहुत बड़ा परिसर होना चाहिए। आधुनिकता का रिश्ता गतिशीलता से वैज्ञानिकता से और खुलेपन से ही सही ढंग से हासिल किया जा सकता है, चीख-चिल्लाहट, शोर से और अच्छी परम्पराओं को खत्म करके नहीं। आजकल कट्टर रूढ़िपन्थी और उग्रनिषेधवादी ही नहीं अव्वल दर्जे के पोंगापन्थी भी अराजकता के साथ आधुनिकता में शरीक हो गये हैं। हमारे पास मूल्य थे,

ईमानदारी, मूल्य, नैतिकता, आदर्श, निडरता और आत्मालोचन था। हम एक नया मनुष्य रचना चाहते थे लेकिन अमानवीयता ने उसे सभी ओर से छेंक दिया है। सृजनशीलता, सक्रियता और व्यावहारिकता के साथ किये गये नवाचार समाज और संस्कृति को और मानवीय विश्वासों को विकास की प्रक्रिया की ओर ले जा सकते थे लेकिन सत्ता-व्यवस्था पोषित और कॉरपोरेट घरानों के द्वारा संरक्षित किये जा रहे इरादों ने सभी को ठिकाने लगा दिया है। दुर्भाग्य से संस्कृति, सामाजिकता, वास्तविकता अपने वर्चस्व को कायम नहीं कर सकी और बड़ी तेजी से अपसंस्कृति का रूप ग्रहण नहीं कर सकी।

अन्धी धार्मिकता ने अन्धविश्वासों, पाखण्डों, विकृतियों, विरूपताओं और धूर्तताओं को ही पोषित किया। प्रयागराज का महाकुम्भ इसका साक्षात् उदाहरण है। आस्थाओं और धार्मिकता के नाम पर राजनीतिक रोटियाँ सेंकी जा रही हैं। सच को दबाया जा रहा है और परम झूठ के साथ एक पोंगा-पन्थी, कट्टर और धूर्तताओं से युक्त सामाजिक जीवन का निर्माण विराट पैमाने पर उत्सव की तरह किया जा रहा है। लोकतान्त्रिकता और स्वतन्त्रता का वध इसकी वास्तविकता का खुला बयान है। हमारा समय, समाज ही नहीं पूरा जीवन एक 'स्थायी डर की चपेट' में आ गया-सा लगता। स्वाभाविक रूप से हँसने-हँसाने की हिम्मत खोता जा रहा है। इस दौर में हम क्रूरता, कट्टरता, कठोरता और मानवता से खलास होते जा रहे हैं। संस्कृति के ऊपर अपसंस्कृति, बाजार और मूल्यहीनता, चमचमाहट और स्वार्थपरताओं का डेरा हो चुका है। संस्कृति के मूल तत्त्वों, मन्तव्यों और सद्गुणों का लगातार उल्लंघन ही अपसंस्कृति की दुनिया है। इसलिए संस्कृति का सांस्कृतिक विविधताओं, मूल्यों और नैतिकताओं का बहुत तेजी से क्षरण होता जा रहा है। यह दौर आधुनिकता, संस्कृति और बाजार का है लेकिन विज्ञान टेक्नोलॉजी और मुक्त बाजार इन्हीं के आस-पास हैं। लगता है कि अब संस्कृति के लिए कोई जगह ही नहीं बची। सब कुछ मुक्त है। हर चीज का कारोबार हो रहा है। साहित्य, संस्कृति, कलाएँ, धार्मिकता, हमारी अस्मिता और विरासत भी। हम जादुई झूठ के साम्राज्य में साँस ले रहे हैं। आधुनिकता के जबरदस्त आक्रमण में आदमी की कीमत काफी गिर गयी है। आधुनिकता और यथार्थ के बीच की खींची गयी लक्ष्मण रेखा निरर्थक हो गयी है।

यह कोई सामान्य स्थिति वाला समय नहीं है। यह एक दारुण, बेचैनी, वीभत्स, आडम्बर और घृणा का समय है। यह एक विसंगति-विडम्बना पूर्ण गपोड़ी समय भी है। हमारे जीवन में इतने दुःख व्याप्त हैं कि मौत, मॉब लिंचिंग और बलात्कार एक प्रहसन की तरह घटाये जा रहे हैं। बड़े स्तर पर असंख्य मौतें छिपा ली जाती हैं। कोरोना के दौर की मौतें गवाह हैं और बाद के दौर में सामूहिक बलात्कार खुल्लम-खुल्ला हो रहे हैं। ऐसी स्थितियाँ जब तब होती ही रहती हैं। सब कुछ क्षत-विक्षत होता जा रहा है। न्याय-व्यवस्था पंगु हो गयी है। सच बोलने का साहस खत्म होने की कगार पर है। हम सार्वजनिक रूप से झूठ की खेती लार्ज स्केल पर कर रहे हैं। हस्तक्षेप की स्थितियाँ समाज में कम से कमतर होती जा रही हैं। एक विशेष प्रकार के 'राष्ट्रीय स्वाँग' ने मनुष्यता को, हमारी अस्मिता और सांस्कृतिक विरासत को नेस्तनाबूद करने का काम ठेके से कर लिया है। इस अवसर पर कृष्णा सोबती का एक निबन्ध याद कर रहा हूँ, जिसका शीर्षक है–'राष्ट्र की साहित्यिक संस्कृति नागरिक समाज की थाती है' उनके शब्द हैं–''हम यह न भूलें कि हमारी संस्कृति का प्रमुख पक्ष विचार-स्वातन्त्र्य ही रहा है। यह तब भी मौजूद रहा, जब हम दूसरों के अधीन थे। विचार की इस लम्बी प्रक्रिया ने ही भारतीय दर्शन और चिन्तन को विशेष बनाया है। यही भारतीय संस्कृति और जीवन शैली का मुखड़ा है। ''विभिन्न समाजों के प्रभावों को आत्मसात करने की स्वभावगत क्षमता और लचक ने भारतीय संस्कृति को सांस्कृतिक घनत्व प्रदान किया है।''

हम देख रहे हैं कि इधर अधकचरे, अधकुचरे और ठगी के मनोविज्ञान ने एक संगठित संस्कृति के बाजार का आकार ग्रहण कर लिया है। जिसे तथाकथित सत्ताएँ पाल-पोष रही हैं। उदाहरण के लिए अनेक में से तात्कालिक रूप से उभरे दो नारों का जिक्र कर रहा हूँ। प्रयागराज महाकुम्भ के सन्दर्भ में ये विज्ञापन के रूप में भी रेखांकित और प्रचारित हुए हैं। सरकारी विज्ञापनों और तथाकथित नकली धर्म अन्धविश्वासियों ने पुण्य प्राप्त करने और स्वर्ग कमाने के निरन्तर प्रलोभनों की एक लम्बी शृंखला बना दी। वैसे भी हमारा देश आस्थाओं, मूल्यों, नैतिकताओं और विश्वासों में जीने वाला रहा है। अमीरजादों को छोड़िये। पुण्य कमाने वाले लोग कई वर्षों से माघ मेले में शामिल हो रहे हैं। इस 144 वर्षों बाद आने वाले महाकुम्भ ने आस्थावानों को लगभग पगला दिया है। रीवा का ही एक उदाहरण दूँ। एक ऑटो रिक्शा चालक अपनी चाची और उनकी दो परिचितों को लेकर प्रयागराज गया था। भगदड़ में वो तीनों महिलाएँ कहाँ गयीं। जीवित हैं या नहीं? एक दिन कई तरह की घोषणाओं को करवाने के बाद रोता-पीटता लौट आया क्योंकि वो अपने बाल-बच्चों को भूखा कैसे छोड़ देता? उनकी पढ़ाई को कैसे स्थगित कर देता? अब रोने-कलपने के अलावा उसके पास कोई विकल्प ही नहीं है।

मुझे लगता है कि आधुनिकता और संस्कृति किसी भी सूरत में सुविधा की वस्तुएँ नहीं हैं लेकिन इन्हें नजरअन्दाज भी नहीं किया जा सकता। आधुनिकता का रिश्ता गतिशीलता से होना चाहिए, जीवन-मूल्यों के चतुर्दिक विकास-सी, किसी वेश-भूषा से नहीं। हँसी आती है जब वेश-भूषा से किसी की पहचान करने की छद्म कोशिश की जाती है। हमारे देश में यह धारावाहिक ढंग से हैंडलिंग किया जाता रहा है। जाली एल.एल.बी. फिल्म की अदालत का एक दृश्य याद कर रहा हूँ जब हत्या और हत्याकाण्ड छिपाने के लिए किसी मुसलमान को हिन्दू में बदल दिया जाता है। हमारे यहाँ मॉब लिंचिंग के मामलों में मुसलमान विशेष रूप से रेखांकित किये जा रहे हैं। यह एक तरह की अदला-बदली का हिस्सा ही रहा है। इस बदले हुए समय में बहुत कुछ हो रहा है। आइंस्टीन ने बताया था कि समय और स्थान एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अपने तईं एक विशेष चीज रेखांकित करना जरूरी है कि प्रदूषण सिर्फ हवा का नहीं है बल्कि मनोविज्ञान का भी है और क्रूरताओं-कट्टरताओं का भी।

■

आधुनिकता और भूमण्डलीकरण

राजाराम भादू

आवरण कथा

समाजवैज्ञानिक जब आधुनिकता शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका आशय केवल नये और फैशनेबल कपड़ों या आधुनिक उपकरणों से नहीं होता। आधुनिकता से उनका आशय दुनिया-भर में आये कुछ बदलावों से होता है, जो दो-तीन सदी पहले शुरू हुए थे। बुनियादी तौर पर यह बदलाव अपने-आपको और अपनी दुनिया को समझने के लिए तर्क के अधिकाधिक प्रयोग और अपने क्रियाकलापों को तर्क की सख्त कसौटी पर कसने की ओर रहा है।

लेखक सांस्कृतिक अध्येता हैं।
+91 9828169277
rajar.bhadu@gmail.com

पश्चिमी यूरोप में आधुनिकता की आहट औद्योगिक पूँजीवाद के उदय के साथ अठारहवीं शताब्दी के आस-पास सुनाई पड़ने लगी थी। उसी समय सड़कों से लेकर सेनाओं तक तमाम चीजों के नियोजन और पुनर्निर्धारण के लिए तकनीकी तार्किकता का इस्तेमाल भी बढ़ने लगा था। भारत में अँग्रेजों के पहले मुगल और दूसरी सेनाओं में भी बढ़ती नौकरशाही व्यवस्था के साथ आधुनिकता की आहट सुनाई पड़ने लगी थी। जब इस पूरे इलाके पर अँग्रेज काबिज होने लगे तो आधुनिकता को और बल मिला तथा वह अपने अनूठे ढंग से विकसित होने लगी।

बहुत लोगों के अनुसार आधुनिकता की एक बड़ी समस्या यह है कि आधुनिकता स्थानीय विविधताओं को नजरअन्दाज कर देती है और सब पर एक ही उत्तर थोपने का प्रयास करती है। यह एक सार्वभौमिक चरित्र का दिखावा तो करती है, मगर वास्तव में यह सार्वभौमिक नहीं होती। सार्वभौमिकता का दिखावा असल में दूसरे विकल्पों का दमन होता है। जब भी हम संस्कृति और पहचान के धरातल पर आधुनिकता को लागू करते हैं, जिसमें नौकरशाहीकरण और पूँजीवाद भी शामिल है, तो हर जगह समस्याएँ सिर उठाने लगती हैं। अब लोग आधुनिकता के खिलाफ संघर्ष भी छेड़ने लगे हैं। ये आलोचक कहते हैं कि आज का यह समय आधुनिकता की अस्वीकृति का, उसको खारिज करने का है। उनके अनुसार, ईरान से लेकर अमेरिका तक तमाम देशों के लोग फिर से पहचान और धर्म की ओर लौटने लगे हैं। आधुनिकता के शिखर काल में विज्ञान की सर्वोच्चता इस अपेक्षा पर आधारित थी कि वह हर चीज का उत्तर दे सकता है। लेकिन, हमारे उथल-पुथल भरे दौर को देखकर ऐसा लगने लगा है कि किसी भी चीज का कोई एकल उत्तर हो ही नहीं सकता। हमारे सामने असंख्य संस्कृतियाँ हैं और हम इस बात को स्वीकार करते जा रहे हैं कि वे हमेशा हमारे साथ अस्तित्व में रहने वाली हैं। इस तरह के आलोचकों की राय में नौकरशाही और तर्कशीलता को खारिज करना अनिवार्य है।

बीसवीं शताब्दी के मध्य में आधुनिकतावादी सिद्धान्त का बड़ा बोलबाला सुनाई पड़ता था। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित था कि अन्ततः सारे देश पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के विकसित देशों जैसे बन जाएँगे। कहा जा रहा था कि जब हर देश एक निर्वाचित संसद की स्थापना कर लेगा, वहाँ अमेरिका और सोवियत संघ जैसी नौकरशाही संस्कृतियों के अनुसार चलने वाले उद्योग होंगे, वहाँ अमेरिका और सोवियत संघ जैसे विश्वविद्यालय होंगे, तो हर देश आधुनिकीकरण की उच्च अवस्था में पहुँच जाएगा। आज आधुनिकीकरण का यह सिद्धान्त क्षत-विक्षत पड़ा दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए जापान अमेरिका के मुकाबले बिल्कुल

अलग ढंग की औद्योगिक प्रबन्धकीय संस्कृति के सहारे एक बेहद ताकतवर आर्थिक शक्ति बन गया। सिंगापुर और सऊदी अरब लोकतन्त्र के अंशमात्र के बिना भी दुनिया के सम्पन्न राष्ट्रों में हैं।

कुछ लोग पहचान के उदय और सार्वभौमवाद के सामने मौजूद चुनौतियों के बल पर यह घोषणा कर रहे हैं कि हम एक उत्तर-आधुनिक युग में पहुँच गये हैं, जहाँ आधुनिकता का अब कोई मतलब नहीं रह गया है। उनका कहना है कि आधुनिकता के अपने लाभ हैं, मगर अब हम उस अवस्था के आगे आ चुके हैं। इसके विपरीत, कुछ लोग हैं, जो कहते हैं कि आधुनिकता यों भी कभी कोई बहुत महान विचार नहीं था और हमारे प्राचीन तौर-तरीके इससे कहीं बेहतर थे। उनकी घोषणा है कि जितना जल्दी हम अपने पुरखों के तौर-तरीकों पर लौट जाएँगे, अब सबके लिए उतना ही बेहतर होगा। अगर हम पहले समूह को उत्तर-आधुनिकतावादी कहते हैं, तो दूसरे समूह को आधुनिकता विरोधी कहा जा सकता है। इनके अलावा कुछ ऐसे भी हैं, जो पहचान व संस्कृति तथा उनकी तरफ से आधुनिकता पर खड़े किये गये सवालों को समझने के लिए एक ज्यादा एहतियात भरा रुख अपनाते हैं। उनका कहना है कि आधुनिकता अभी भी एक सामाजिक रुझान के रूप में हमारे सामने विद्यमान है और यह विदा नहीं हुआ है। इन लोगों का कहना है कि हमारा दौर उत्तर-आधुनिकता का नहीं, बल्कि आधुनिकता की ही उत्तरवर्ती अवस्था का समय है। यह एक ऐसा दौर है जब हम आधुनिकता को खारिज करने के बजाय इसको सुधारने और इसमें संशोधन का प्रयास कर रहे हैं। उनका कहना है कि जिन मूलभूत प्रक्रियाओं ने आधुनिकता को आकार दिया है, अभी भी वे हमारे साथ हैं। हम अभी भी जटिल समाजों में मिलकर साथ रहने की चुनौतियों से जूझ रहे हैं। बाजारीकरण और पूँजीवाद अभी भी दुनिया में सबसे निर्णायक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ हैं। नौकरशाहीकरण अभी भी संस्थानों की कार्यशैली का निर्णायक आधार है। अगर कोई बदलाव आया भी है तो वह यही है कि इन सारी परिघटनाओं की ताकत और बढ़ गयी है, बजाय इसके कि उसमें कमी आती।

व्यावहारिकता की बजाय संस्कृति-केन्द्रित जीवन और पहचान की इंसानी चाह के लिए आधुनिकता द्वारा प्रस्तुत की गयी चुनौतियों के चलते प्रायः आधुनिकता को नकार दिया गया है। कुछ लोगों का तर्क है कि आधुनिकता पहचान को विकृत करती है, उसे दूसरों पर प्रभुत्व की एक हिंसक, आक्रामक चाह में तब्दील कर देती है। मसलन वैश्वीकरण दुनिया पर प्रभुत्व की चाहत पर आधारित सोच रहा है। वैश्वीकरण इस्लामिक पहचान के एक ऐसे बोध को भी सींच रहा है जो दुनिया के विशाल भागों पर राजनीतिक नियन्त्रण को बहाल करने के लिए खलीफाओं के जमाने को बहाल करना चाहता है। मगर हमारे सामने ऐसे लोग भी हैं, जो यह दलील देते हैं कि आधुनिकता के लिए ऐसा करना अनिवार्य है। आधुनिकता हमें ज्यादा नयी, ज्यादा विस्तृत पहचानें रचने का अवसर भी उपलब्ध कराती है। उदाहरण के लिए, टैगोर की यही आशा थी जब उन्होंने यह चाहत व्यक्त की थी कि हमारा राष्ट्रवाद देश के पड़ोसियों के प्रति घृणा की बजाय संस्कृतियों के खिलने पर आधारित हो। यह राष्ट्रवाद की एक ऐसी कल्पना थी जो अपनी ऊर्जा और जीवन्तता के लिए पड़ोसियों से भयभीत या उनसे घृणा पर आधारित नहीं थी। बहुत सारे लोगों का मानना है कि आधुनिकता ने पहचान का एक ज्यादा संकुचित, ज्यादा आक्रामक बोध को जन्म दिया है जो तमाम तरह के मतभेदों और विविधताओं को कुचलकर इस बात पर जोर देता है कि एक राष्ट्र में केवल एक ही संस्कृति हो सकती है। मगर साथ ही हमारे पास ऐसे चिन्तक भी हैं जो विश्वास रखते हैं कि हमारे नागरिक सिर्फ एक संस्कृति या एक समुदाय के सदस्य नहीं हैं, बल्कि वे बहुत सारे समुदायों और संस्कृतियों से भी सम्बद्ध हैं। यह आधुनिकता का नकार नहीं है बल्कि उसके परे जाने, उसे और विस्तार देने, उससे और सीखने का तर्क है।

एन्थनी गिडंस जैसे बहुत सारे विद्वानों ने इस रवैये को एक विवेकशील (रिफ्लेक्टिव) आधुनिकता की ओर बढ़ने की चाहत का नाम दिया है। उनके अनुसार, यह विश्वास अब तक जो कुछ हुआ है, उसकी समीक्षा करने और उसको बेहतर बनाने की एक चेष्टा है। आधुनिकता के लाभों को सँभाले बिना उसको पूरा-का-पूरा खारिज कर देना खुद को पुनः अन्धकार-युग में धकेल देने जैसा कृत्य होगा। बेहतर होगा कि बहुत सारे संवर्धनकारी सुधार आधुनिकता पर केन्द्रित किये जाएँ। इसके लिए हमें एक ऐसी समीक्षात्मक प्रक्रिया से गुजरना होगा जो यह सवाल खड़ा करे कि हम दरअसल क्या करना चाहते हैं—हम एक ऐसी व्यवस्था रचना चाहते हैं जो हमारी मानवीयता को अभिव्यक्ति दे या एक ऐसी व्यवस्था रचना चाहते हैं जो केवल और अधिक मुनाफे और अधिक नियन्त्रण की चाहत को बढ़ावा दे।

हम पिछले दिनों तक अपने सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार को प्रायः परम्परा और आधुनिकता का एक जटिल मिश्रण कहकर एक सरलीकृत उत्तर देने की कोशिश करते थे, जबकि इनके अपने निर्धारित सत्त्व हैं। इसमें इन परम्पराओं की पहचान दो मुख्य गुणों से होती है—बहुलता एवं तर्क-वितर्क की परम्परा। भारतीय परम्पराओं में लगातार परिवर्तन होते रहे हैं और उन्हें पुनर्परिभाषित करने की सामाजिक-बौद्धिक चेष्टा कभी नहीं रुकी है। इसका साक्ष्य 19वीं सदी के समाज-सुधारों और उनके आन्दोलनों में दिख चुका है। ये प्रक्रियाएँ आज भी जीवन्त हैं।

आधुनिक पश्चिम में धर्मनिरपेक्षता का मतलब ऐसी प्रक्रिया है जिसमें धर्म के प्रभाव में कमी आती है। आधुनिकीकरण के सिद्धान्त के सभी प्रतिपादक विचारकों की मान्यता रही है कि आधुनिक समाज ज्यादा-से-ज्यादा धर्मनिरपेक्ष होता है। धर्मनिरपेक्षीकरण के सभी सूचक मानव के धार्मिक व्यवहार उनके धार्मिक संस्थानों से सम्बन्ध (जैसे चर्च में उनकी उपस्थिति), धार्मिक संस्थानों का सामाजिक तथा भौतिक प्रभाव और लोगों के धर्म में विश्वास करने की सीमा को विचार में लेते हैं। यह माना जाता है कि धर्मनिरपेक्षीकरण के सभी सूचक आधुनिक समाज में धार्मिक संस्थानों और लोगों के बीच बढ़ती दूरी के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, लेकिन हाल ही में धार्मिक चेतना में अभूतपूर्व वृद्धि और धार्मिक संघर्ष के उदाहरण सामने आये हैं।

हालाँकि अतीत की भाँति एक विचार यह भी है कि आधुनिक युग धार्मिक जीवन को आवश्यक रूप से विलुप्त करेगा। भारत में किये जाने वाले कुछ अनुष्ठानों में प्रत्यक्ष रूप से धर्मनिरपेक्षीकृत प्रभाव भी रहा है। वस्तुतः अनुष्ठानों के धर्मनिरपेक्ष आयाम पन्थनिरपेक्षता के लक्ष्यों से पृथक होते हैं। इनसे पुरुषों और

महिलाओं को अवसर मिलता है कि वे अपने मित्रों-सहेलियों से और अपनी उम्र से बड़े लोगों से भी घुलें-मिलें और अपनी सम्पत्ति का भी कपड़े और जेवर पहनकर प्रदर्शन करें। पिछले कुछ दशकों से अनुष्ठानों के आर्थिक, राजनीतिक और परिस्थिति आयामी पक्ष ज्यादा उभरकर सामने आये हैं। दिखावे की प्रवृत्ति को इस बात से समझा जा सकता है कि शादी-ब्याह के अवसर पर घर के बाहर लगी मोटर गाड़ियों की कतार और अति महत्त्वपूर्ण व्यक्ति (वी.आई.पी.) के मेहमान बनकर आने को उस परिवार की समृद्धि व विशेषता समझा जाता है। स्थानीय समुदाय में ऐसे परिवारों को ऊँची नजर से देखा जाता है।

जाति के धर्म-निरपेक्षीकरण का अर्थ किस तरह लिया जाये इस पर भी जबरदस्त वाद-विवाद होता रहा है। पारम्परिक भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था धार्मिक चौखटे के अन्दर क्रियाशील थी। पवित्र और अपवित्र से सम्बन्धित विश्वास व्यवस्था इस क्रियाशीलता का केन्द्र थी। आज के समय में जाति एक राजनीतिक दबाव समूह के रूप में ज्यादा कार्य कर रही है। समसामयिक भारत में जाति संगठनों और जातिगत राजनीतिक दलों का उद्‌भव हुआ है। यह जातिगत संगठन अपनी माँग मनवाने के लिए दबाव डालते हैं। जाति की इस बदली हुई भूमिका को जाति पन्थ-निरपेक्षीकरण कहा गया है।

रजनी कोठारी के अनुसार–'सभी जानते हैं कि भारत में पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था जाति-संरचना और जातीय पहचान के इर्द-गिर्द संगठित है। लेकिन आधुनिक परिदृश्य में जाति और राजनीति के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए आधुनिकता के सिद्धान्तों से बना नजरिया एक प्रकार के भय से ग्रसित होता है। वह इस प्रश्न से शुरू होता है कि क्या जाति समाप्त हो रही है। निश्चित रूप से कोई भी सामाजिक व्यवस्था इस तरह समाप्त नहीं हो जाती। एक ज्यादा उपयोगी दृष्टि अलबत्ता यह होगी कि आधुनिक राजनीति के प्रभाव में जाति कौन-सा रूप लेकर सामने आ रही है और जाति अभिमुखित समाज में राजनीति की क्या रूपरेखा है?

जो लोग भारतीय राजनीति में जातिवाद की शिकायत करते हैं, दरअसल वे ऐसी राजनीति की खोज में हैं, जिसका समाज में कोई आधार ही नहीं। राजनीति एक प्रतियोगात्मक प्रयास है जिसका उद्देश्य होता है शक्ति पर कब्जा कर कुछ निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति करना। एक महत्त्वपूर्ण बात संगठन का होना तथा सहायता का निरूपण है। जहाँ राजनीति जन-आधारित हो वहाँ ऐसे संगठन के द्वारा जिससे जन साधारण का जुड़ाव हो, सहायता का निरूपण किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ जातीय संरचना एक ऐसा संगठनात्मक समूह प्रदान करती है, जिसमें जनसंख्या का एक बड़ा भाग निवास करता है, राजनीति को ऐसी ही संरचना के माध्यम से व्यवस्थित करने का प्रयत्न करना चाहिए। राजनीतिज्ञ जाति-समूहों को इकट्ठा करके अपनी शक्ति को संगठित करते हैं। जहाँ अलग प्रकार के समूह और संस्थानों के अलग आधार होते हैं। राजनीतिज्ञ उन तक पहुँचते हैं और जैसे कि वे कहीं पर भी ऐसी संस्थाओं के स्वरूपों को परिवर्तित करते हैं वैसे ही जाति के स्वरूपों को भी परिवर्तित करते हैं।

आधुनिकता के पश्चिमी विचारों ने भारतीय राष्ट्रवादियों की काल्पनिकता को निर्मित किया। कुछ पारम्परिक शास्त्रों और ग्रन्थों को एक नये दृष्टिकोण देने के लिए तत्पर हुए, जबकि एक अन्य समूह ने इन पारम्परिक ग्रन्थों को अमान्य करार दिया। पश्चिमी सांस्कृतिक स्वरूपों की हमारे समाज में पैठ हुई। इसके अनुरूप ही सब नये प्रकार के सामाजिक व्यवहार के मानदण्ड सामने आये कि पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का आचरण किस प्रकार का हो? कलात्मक अभिव्यक्तियों में भी इसकी छाप नजर आयी। हमारे समाज-सुधार आन्दोलनों और राष्ट्रीय आन्दोलन पर पाश्चात्य समानता और लोकतन्त्र के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। इन सबसे एक ओर जहाँ पश्चिमी विचारों को भारतीय समाज में स्वीकृति मिली, वहीं दूसरी तरफ भारतीय परम्परा पर प्रश्न किये गये तथा उसकी पुनर्व्याख्या की गयी।

यह सही है कि भूमण्डलीकरण का सामाजिक आशय बहुत महत्त्वपूर्ण है। लेकिन समाज के विभिन्न हिस्सों पर इसका प्रभाव बहुत ही भिन्न प्रकार का होता है। इसलिए भूमण्डलीकरण के प्रभाव के बारे में लोगों के विचार एक समान न होकर बहुत ही विभाजित हैं। कुछ का विश्वास है कि भूमण्डलीकरण बेहतर विश्व के अग्रदूत के रूप में अत्यन्त आवश्यक है। दूसरों को डर है कि विभिन्न समूहों के लोगों पर भूमण्डलीकरण का असर बहुत ही अलग-अलग प्रकार का होता है। उनका कहना है कि अधिक सुविधा-सम्पन्न वर्गों में बहुत से लोगों को तो इससे लाभ होगा लेकिन पहले से ही सुविधा-वंचित आबादी के बहुत बड़े हिस्सों की हालत बद-से-बदतर होती चली जाएगी।

भूमण्डलीकरण संस्कृति को कई प्रकार से प्रभावित करता है। हम जानते हैं कि युगों से भारत सांस्कृतिक प्रभावों के प्रति खुला दृष्टिकोण अपनाये हुए है और इसी के फलस्वरूप यहाँ सांस्कृतिक दृष्टि में कई बड़े-बड़े सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं, जिनसे यह डर पैदा हो रहा है कि कहीं हमारी स्थानीय संस्कृतियाँ पीछे न रह जाएँ। हमारी सांस्कृतिक परम्परा 'कूपमण्डूक' यानी जीवन-भर कुएँ के भीतर रहने वाले उस मेढक की स्थिति से सावधान रहने की शिक्षा देती रही है जो कुएँ से बाहर की दुनिया के बारे में कुछ नहीं जानता और हर बाहरी वस्तु के प्रति शंकालु बना रहता है। वह किसी से बात नहीं करता और किसी से भी किसी विषय पर तर्क-वितर्क नहीं करता। वह तो बस बाहरी दुनिया पर केवल सन्देह करना ही जानता है। सौभाग्य से हम आज भी अपनी परम्परागत खुली अभिवृत्ति अपनाये हुए हैं। इसलिए हमारे समाज में राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों पर ही नहीं बल्कि कपड़ों, शैलियों, संगीत, फिल्म, भाषा, हाव-भाव आदि के बारे में भी गरमागरम बहस होती है। 19वीं सदी के सुधारक और प्रारम्भिक राष्ट्रवादी नेता भी संस्कृति तथा परम्परा पर विचार-विमर्श किया करते थे। मुद्दे वर्तमान में भी कुछ दृष्टियों में वैसे ही हैं और कुछ अन्य दृष्टियों में भिन्न भी हैं। शायद अन्तर यही है कि अब परिवर्तन की व्यापकता और गहनता भिन्न है।

मुख्य रूप से यह दावा किया जाता है कि सभी संस्कृतियाँ एक समान यानी सजातीय (होमोजिनस) हो जाएँगी। कुछ अन्य का यह मत है कि संस्कृति के भूस्थानीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। भूस्थानिकरण का अर्थ है–भूमण्डलीय के साथ स्थानीय का मिश्रण। यह पूर्णतः स्वतः प्रवर्तित नहीं होता और न ही भूमण्डलीकरण के वाणिज्यिक हितों से इसका पूरी तरह सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सकता है। यह एक ऐसी रणनीति

है जो अक्सर विदेशी फर्मों द्वारा अपना बाजार बढ़ाने के लिए स्थानीय परम्पराओं के साथ व्यवहार में लायी जाती है। भारत में कई टी.वी. चैनल और कार्टून नेटवर्क जैसे सभी विदेशी टेलीविजन चैनल भारतीय भाषाओं का प्रयोग करते हैं। यहाँ तक कि मैकडानल्ड्स भी भारत में अपने निरामिष और चिकन उत्पाद ही बेचता है, गोमांस के उत्पाद नहीं जो विदेशों में बहुत लोकप्रिय हैं। नवरात्रि पर्व पर तो मैकडॉनल्ड्स विशुद्ध निरामिष हो जाता है। संगीत के क्षेत्र में 'भाँगड़ा, पॉप, इण्डिपॉप', फ्यूजन म्यूजिक', यहाँ तक कि रीमिक्स गीतों की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखा जा सकता है।

सांस्कृतिक पहचान के एक निश्चित परम्परागत स्वरूप का समर्थन करने वाले लोग अक्सर महिलाओं के विरुद्ध होने वाले भेदभावपूर्ण व्यवहारों और अलोकतान्त्रिक प्रथाओं को सांस्कृतिक पहचान का नाम देकर बचाव करते हैं। इस प्रकार की अनेक प्रथाएँ प्रचलित रही हैं–जैसे–सतीप्रथा, पर्दाप्रथा से लेकर महिलाओं की शिक्षा तथा उन्हें सार्वजनिक क्रिया-कलापों से दूर रखना। महिलाओं के प्रति अन्यायपूर्ण प्रथाओं का समर्थन करने के लिए भूमण्डलीकरण का हौवा खड़ा किया जा सकता है। सौभाग्य से भारत में हम एक लोकतान्त्रिक परम्परा और संस्कृति को अक्षुण्ण रखने एवं विकसित करने में अभी तक सफल रहे हैं जिससे हम संस्कृति को अधिक समावेशात्मक और लोकतान्त्रित रूप में परिभाषित कर सकते हैं।

अक्सर जब हम संस्कृति की बात करते हैं तो हम पहनावे, संगीत, नृत्य, खाद्य आदि की चर्चा करते हैं। किन्तु जैसा कि हम जानते हैं संस्कृति इन बातों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन-शैली से है। संस्कृति के दो रूप हैं जिनका उल्लेख भूमण्डलीकरण विषयक किसी भी सन्दर्भ में होना चाहिए। वे हैं–उपभोग की संस्कृति और निगमित संस्कृति। सांस्कृतिक उपभोग की उस निर्णायक भूमिका पर विचार कीजिये जो भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में विशेष रूप से नगरों को एक रूप प्रदान करने की प्रक्रिया में अदा की जा रही है। 1970 के दशक तक उत्पादन उद्योग नगरों की वृद्धि में प्रमुख भूमिका निभाते रहे हैं। लेकिन अब सांस्कृतिक उपभोग (कला, खाद्य, फैशन, संगीत, पर्यटन) अधिकतर नगरों की वृद्धि को एक आकार प्रदान करता है। यह तथ्य भारत के सभी बड़े शहरों में विशाल बिक्री भण्डारों, (शॉपिंग मॉल्स, बहुविध सिनेमाघरों, मनोरंजन उद्यानों और जल-क्रीड़ा स्थलों के विकास में आयी तेजी से स्पष्ट होता है। अधिक उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि विज्ञापन और सामान्य रूप से जन सम्पर्क के सभी माध्यम एक ऐसी संस्कृति को बढ़ावा दे रहे हैं, जिसमें पैसा खर्च करना ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पैसे को सँभल कर रखना अब कोई गुण नहीं रहा। खरीददारी को समय बिताने की गतिविधि के रूप में सक्रियता से प्रोत्साहित किया जाता है।

'ब्रह्माण्ड सुन्दरी' (मिस यूनिवर्स), और 'विश्व-सुन्दरी' (मिस वर्ल्ड) जैसी फैशन प्रतियोगिताओं के समारोहों की उत्तरोत्तर सफलताओं के कारण फैशन, सौन्दर्य-प्रसाधन एवं स्वास्थ्य उत्पादों से सम्बन्धित उद्योगों की अत्यधिक वृद्धि हुई है। युवा लड़कियाँ ग्लैमर की दुनिया के सपने देख रही हैं। टेलीविजन पर आने वाले प्रतिस्पर्धात्मक कार्यक्रमों से वास्तव में ऐसा प्रतीत होने लगा है कि कुछ ही चीजों से हमारा भाग्य बदल सकता है। निगम संस्कृति (कॉरपोरेट कल्चर) प्रबन्धन सिद्धान्त की एक ऐसी शाखा है जो किसी फर्म के सभी सदस्यों को साथ लेकर एक अद्भुत संगठनात्मक संस्कृति के निर्माण के माध्यम से उत्पादकता और प्रतियोगात्मकता को बढ़ावा देने का प्रयत्न करती है। ऐसा सोचा जाता है कि एक गतिशील संस्कृति–जिसमें कम्पनी के कार्यक्रम, रीतियाँ एवं परम्पराएँ शामिल होती हैं, कर्मचारियों में वफादारी की भावना को बढ़ाती हैं और समूह की एकता को प्रोत्साहन देती हैं। वह यह भी बताती है कि काम करने का तरीका क्या है और उत्पादों को कैसे बढ़ावा दिया जाये और उनको कैसे पैक किया जाये।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रसार और सूचना प्रौद्योगिकी में आयी क्रान्ति के फलस्वरूप अवसरों की उपलब्धता में वृद्धि हो जाने से भारत के महानगरों में ऐसे ऊर्ध्वगामी व्यावसायिकों (प्रोफेशनलों) का एक वर्ग बन गया है जो सॉफ्टवेयर फर्मों, बहुराष्ट्रीय बैंकों, चार्टेड लेखाकार फर्मों, स्टॉक बाजारों, यात्रा, फैशन डिजाइन, मनोरंजन, मीडिया और अन्य सहबद्ध क्षेत्रों में कार्यरत हैं। इन महत्त्वाकांक्षी व्यावसायिकों की कार्य-अनुसूची अत्यन्त तनावपूर्ण होती है। उनके वेतन-भत्ते बहुत ज्यादा होते हैं और बाजार में तेजी से बढ़ते उपभोक्ता उद्योगों के उत्पादों के वे ही प्रमुख ग्राहक होते हैं।

सांस्कृतिक रूपों एवं भूमण्डलीकरण के बीच एक अन्य सम्बन्ध अनेक स्वदेशी शिल्पों एवं साहित्यिक परम्पराओं और ज्ञान व्यवस्थाओं की दशा में दृष्टिगोचर होता है। यह याद रखना भी महत्त्वपूर्ण है कि आधुनिक विकास ने भूमण्डलीकरण की अवस्था से पहले भी परम्परागत सांस्कृतिक रूपों और उन पर आधारित व्यवसायों में अपनी घुसपैठ बना ली थी। लेकिन अब परिवर्तन का अनुपात और उसकी गहनता अत्यधिक तीव्र है। उदाहरण के लिए लगभग 30 थिएटर समूह जो मुम्बई महानगर के परे और गोरेगाँव की कपड़ा मिलों के इलाके के आस-पास सक्रिय थे, अब निष्क्रिय एवं बन्द हो चुके हैं, क्योंकि इन इलाकों के मिल-मजदूरों में से अधिकांश लोगों की नौकरी खत्म हो चुकी है। कुछ वर्ष पहले आन्ध्र प्रदेश के करीम नगर जिले के सरसिला गाँव और उसी राज्य के मेढ़क जिले के डुबक्का गाँव के पारम्परिक बुनकरों द्वारा बहुत बड़ी संख्या में आत्महत्या किये जाने की खबरें मिली थीं। इसका कारण यह था कि इन बुनकरों के पास बदलती हुई उपभोक्ता रुचियों के अनुरूप अपने-आपको ढालने और विद्युत कर्घों से मुकाबला करने के लिए प्रौद्योगिकी में निवेश करने के लिए कोई साधन नहीं थे।

इसी प्रकार परम्परागत ज्ञान व्यवस्थाओं के विभिन्न रूप जो विशेष रूप से आयुर्विज्ञान और कृषि के क्षेत्रों से सम्बन्धित थे, सुरक्षित रखे गये हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपे जाते रहे हैं। तुलसी, रुद्राक्ष, हल्दी और बासमती चावल के प्रयोग को पेटेण्ट कराने के लिए हाल में कुछ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा जो प्रयत्न किये गये उनसे स्वदेशी ज्ञान-व्यवस्थाओं के आधार को बचाने की आवश्यकता प्रकाश में आयी है। वैसे भूमण्डलीकरण ने जिन विभिन्न और जटिल रूपों में हमारे जीवन को प्रभावित किया है उसे संक्षेप में प्रस्तुत करना आसान नहीं है। हम ऐसा प्रयास भी नहीं करेंगे इसलिए सभी को सचेत दृष्टि से इसके प्रति आलोचनात्मक रुख अपनाने की आवश्यकता है।

■

आवरण कथा

मरीचिकाएँ और उम्मीद की लालटेन

ईश्वर सिंह दोस्त

यह धर्म-आधारित विश्व का विचारधारा-आधारित विश्व में रूपान्तरण था। धर्म भी इस नयी परिस्थिति के साथ मेल बिठाते हुए विश्व की एकमात्र वर्चस्वी व्याख्या की जगह महज 'एक और विचारधारा' रह गया, जिसे अपनी वैधता व स्वीकृति बनाये रखने के लिए दूसरी नयी विचार-सरणियों मसलन राष्ट्रवाद, औपनिवेशिकतावाद आदि के साथ ही नहीं, बल्कि विज्ञान, लोकतन्त्र आदि बिल्कुल अलग तरह के विमर्शों के साथ मेल बिठाने और समझौता करने की राह पर चलना पड़ा।

आधुनिकता की एक खासियत यह थी कि इसने अतीत की जगह भविष्य से निर्देश लेने का प्रस्ताव किया था। यह भविष्योन्मुखी थी। इसने समाज के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक आयामों को खेल के लिए एक हद तक स्वायत्त कर दिया था। ये आयाम अब एक-दूसरे पर असर डालने या एक-दूसरे का खेल बनाने-बिगाड़ने का काम कर सकते थे।

पहले धर्म की कसी या ढीली डोर से आबद्ध भविष्य के बँधे-बँधाये रास्ते थे, जो दुनियावी परिवर्तन की जगह अमूमन अलौकिक मुक्ति की तरफ ले जाने का वायदा करते थे। आधुनिकता ने तथ्यों की दुनिया और आदर्श या मूल्यों की दुनिया के बीच एक फाँक खड़ी कर इन्हें भी एक-दूसरे से स्वायत्त कर दिया। अब काफी हद तक आदर्शों की दखलन्दाजी के बगैर तथ्यों की दुनिया का वैज्ञानिक अध्ययन हो सकता था। वस्तुगतता, यथार्थ, तथ्य, गणितीय या आनुभविक सच जैसी बातें प्रचलन में आती गयीं। तथ्यों की दुनिया जहाँ एक तरफ मूल्यों व आदर्शों से अलग हुई, वहीं ''क्या होना चाहिए'', ''वास्तव में क्या है'', से अलग हो गया। इस नयी आधुनिक स्थिति ने वर्गों, तबकों और समुदायों को या कहें कि विभिन्न हितों को भविष्य के अपने-अपने आदर्श गढ़ने की छूट दे दी। अब भविष्य के कई तरह के प्रस्ताव वर्चस्व बनाने के आपसी मुकाबले में थे।

यह सही है कि आधुनिकता का एपिकसेण्टर यूरोप था, मगर इसके झटकों का कम या ज्यादा असर दुनियावी था। एक-दूसरे से टकराती व गठबन्धन करती अलग-अलग विचार-सरणियों के भविष्य के अपने-अपने आदर्श थे। जहाँ पूँजीवाद ने उदारवादी विचारधारा के रूप में अपना एक यूटोपिया रचा, जो भविष्य की झाँकी से ही पूँजीवाद के वर्तमान की कार्यकारी वैधता भी हासिल करता था। वहीं समाजवाद और साम्यवाद के यूटोपिया मैदान में आये। 'आ अब लौट चलें' कहने वाले पवित्र पुरातनी-संरक्षणवादी यूटोपिया भी मैदान में थे। इसके बाद धीरे-धीरे राष्ट्र, समुदायों व जेण्डर आधारित यूटोपिया गढ़े गये।

मगर आज एक अजीब स्थिति है। भविष्य की आशा या आश्वासन की जगह भविष्य के डर ने ले ली है। पर्यावरण ही नहीं, धरती के विनाश का खतरा सामने है। किसी को पता नहीं कि विज्ञान के ज्ञानोदयी चिराग से प्रकट हुए टेक्नोलॉजी के जिन्न को वापस कैसे किया जाएगा। किसी को ठीक-ठीक पता नहीं कि यह धरती काफी भारी-भरकम होते जा रहे विकासवाद का बोझ कब तक सह पाएगी। किसी को पता नहीं कि नवउदारवादी मंसूबों से लोकतन्त्र कितना और कितनी देर तक बच पाएगा।

पूँजीवादी उदारवाद के जबरदस्त संकट के समान्तर ही तथाकथित समाजवाद भी

लेखक वरिष्ठ टिप्पणीकार एवं साहित्य अकादमी, छत्तीसगढ़ के पूर्व अध्यक्ष हैं।
+91 8989842952
ishwardost@gmail.com

संकटग्रस्त हो चुका है। जैसे रेत की बाल्टी में आग लिखा होता है, उसी तरह आज चीन, क्यूबा आदि देशों में पूँजीवाद की बाल्टी के ऊपर ही समाजवाद का बोर्ड टँगा हुआ है। हालाँकि नवउदारवादी हकीकत के बावजूद यूनिवर्सिटी व अन्य बौद्धिक हलकों व आन्दोलनों आदि में उदारवादी प्रजाति अब तक बची हुई है और अपने यूटोपिया को पुनर्गठित करने की पुरजोर कोशिश कर रही है। इसी तरह बीसवीं सदी के कथित समाजवाद के 180 डिग्री विरूपण के बावजूद समाजवादी यूटोपियाजन भी बचे हुए हैं।

समय का पहिया इतना तेज है कि विचार-सरणियाँ जल्दी बासी हो रही हैं। भूमण्डलीकरण का विचारधारात्मक विमर्श कुछ ही सालों में नेपथ्य में चला गया। नवउदारवाद के एथनिक अति-दक्षिणपन्थी आवेग ने ज्यादातर देशों में वाम व केन्द्रवादी ताकतों को एक नाव में आने पर मजबूर कर दिया है। हालाँकि एक-दूसरे को गरियाने की पुरानी आदत उन्हें साथ आने से रोकती भी है।

आधुनिकता के एजेण्डे में अब दुनिया को बदलना कम और नवउदारवाद के थपेड़ों से अपने को बचाना ज्यादा है। आधुनिकता इतनी जल्दी अतीत होकर अपने 'संरक्षण' की गुहार करेगी, यह एक समय सोचा भी नहीं जा सकता था। उत्तर-आधुनिकता की उम्र आधुनिकता से भी कम निकली। सोवियत पतन के बाद इतिहास के अन्त की अमेरिकी घोषणा से उत्तर-आधुनिकतावादी देरिदा इतना घबरा गये थे कि मार्क्स के प्रेत उनके चारों तरफ मँडराने लगे थे और वे उनकी कलम के जरिये कागज पर भी उतर आये (हिन्दी में रामकीर्ति शुक्ल ने इसका अच्छा अनुवाद किया है)। उसके बाद और मजबूत हुए नवउदारवाद ने एक उत्तर-आधुनिक वाम भी खड़ा कर दिया। वहीं जिजेक, बैदियू, डल्यूज, राय भास्कर आदि के चिन्तन को आधुनिक या उत्तर-आधुनिक के खाँचे में फिट करना मुश्किल है।

बीसवीं सदी के अँधेरे में कम-से-कम राजनीतिक मतादर्श (यूटोपिया) के कुछ प्रकाश स्तम्भ थे। इक्कीसवीं सदी के अँधेरे में प्रकाश-स्तम्भों की मृग-मरीचिकाएँ फैली हुई हैं। इसलिए उन कार्यकर्ताओं को सलाम किया जाना चाहिए, जो आज इसी घुप अँधेरे में कमजोर लोगों के पक्ष में चले जा रहे हैं, न्याय, बराबरी, आजादी जैसी अवधारणाओं की अपने स्तर की छोटी-छोटी लालटेन लिये हुए। जो कम-से-कम वहाँ रोशनी करती हैं, जहाँ वे चल रहे हैं और लड़ रहे हैं। मगर रास्ता कहाँ है, इसके प्रकाश स्तम्भ जैसे अभी बौद्धिक मरम्मत के लिए बन्द हैं।

हमारा समय अचानक अपने स्वरूप में ही अन्तरिम समय हो गया है। इस समय बौद्धिक बेचैनी, खुला दिमाग उससे ज्यादा जरूरी है, जितनी आधुनिकता के आगाज के समय थी। आज परिघटनाओं के आपसी सम्बन्धों को नये सिरे से समझना जरूरी है। मसलन अक्सर हम विज्ञान बनाम धर्म की बातें करते हैं, यह सोचे बगैर कि विज्ञान और धर्म दोनों आज बाजार की जमीन पर खड़े हैं। नवउदारवाद दोनों को नचा रहा है। अध्यात्म के रूप में किसी 'सच्चे' धर्म या तार्किक चिन्तन के रूप में किसी 'सच्चे' विज्ञान की बातें नवउदारवादी नक्कारखाने में तूती की तरह रह गयी हैं।

धर्म का धन्धा तो पहले भी था। आज फर्क यह है कि एक औसत धार्मिक व्यक्ति धार्मिक अनुभव का भोक्ता नहीं, बल्कि उपभोक्ता (कंज्युमर) बनना चाहता है और इस अनुभव को तुरन्त ही सोशल मीडिया पर शेयर करना चाहता है। धर्म का खाता खुलने की आसान व्यवस्था है। धार्मिक शुभ-लाभ के क्रेडिट कार्ड उपलब्ध हैं। धर्म अब सिर्फ धारण नहीं करता, बल्कि अपने करेंसी नोट के जरिये धारक को निर्धारित धर्म-लाभ अदा करने का वचन भी देता है। इसीलिए नये बाबाओं की धूम है।

इसी तरह विज्ञान को विकासवाद व टेक्नोलॉजिकल विजयोल्लास जैसी विचारधाराओं के जरिये कॉरपोरेट व कॉरपोरेट संचालित सरकारों का गोदी विज्ञान बना दिया गया है। रुककर इस पर सोचना चाहिए कि जो बाजार आज उत्पादन के स्तर के लिए इनोवेशन, क्रिटिकल थिंकिंग की माँग करता है, वही बाजार उपभोक्ता के स्तर पर विज्ञापनी कामनाओं के जरिये आलोचनात्मक चिन्तन को सुलाना चाहता है। यह समझना जरूरी है कि आज नवउदारवाद असत्य की राजनीति नहीं, बल्कि उत्तर-सत्य की राजनीति कर रहा है। लाइक्स बटोरने वाला आभासी सत्य।

नवउदारवाद राजकीयता और अर्थव्यवस्था का ही नहीं, बल्कि हर पुरानी सांस्कृतिक शै का पुनर्गठन कर रहा है। इसमें धर्म व विज्ञान ही नहीं, कला, साहित्य व संस्कृति के तमाम क्षेत्र शामिल हैं। लिटफेस्ट इसका एक पहलू है, दूसरा पहलू अपनी अभिव्यक्ति पर तुरन्त लाइक्स बटोरना है। नवउदारवाद ने शिक्षा व संस्कृति, दोनों क्षेत्रों में 'उद्यमी स्व' के आदर्श को प्रभावी बना दिया है। लाभार्थी सिर्फ सरकारी योजनाओं के नहीं, बल्कि ज्ञान व संवेदना के भी बनाये जा रहे हैं। यह ज्ञान व संवेदना का नवउदारवादी पुनर्गठन है।

दुनिया के कई देशों में लोकतन्त्र के बहुसंख्यकवाद में बदलने के रुझान को सिर्फ नवउदारवाद व पुरानी एथनिक या धार्मिक अस्मिताओं के गठबन्धन के रूप में समझना काफी नहीं है। नवउदारवाद पुरानी अस्मिताओं का सिर्फ इस्तेमाल नहीं कर रहा है, बल्कि उन अस्मिताओं को पुनर्गठित भी कर रहा है। धर्म के नवउदारवादी स्वरूप के जरिये नवउदारवाद की नयी आस्थाओं के तर्क को भी समझा जा सकता है।

बाजार सदियों पुराना है, मगर पूँजीवाद के उदय से ही यूरोप में बाजार का अपना समय शुरू हो गया था। भारत जैसे देश में नये राज्य ने सरकारी समय का जो पर्दा रच दिया था, पूँजीवादी बाजार उसके भीतर ढँका-छिपा खेलता था। नब्बे के दशक के बाद नवउदारवाद ने सरकारी पर्दे को सरकाकर मध्यवर्ग की बाजारवादी कामनाओं के जरिये नया सामाजिक समय रच दिया।

वैसे भी हमारा पूँजीवाद संकर पूँजीवाद है। हमारी आधुनिकता भी संकर आधुनिकता है, बहुत सारे समझौतों, भूल-भुलैयों और लेकिन-परन्तु के साथ। यहाँ यूरोप जैसी नीट कैटेगरीज नहीं हैं। विडम्बना यह है कि भारत में आधुनिकता को कभी भी हम न तो औपनिवेशिक ज्ञान से पैदा हुए कचरे से छान कर अलग कर पाये और न पूँजीवादी बाजार भाव से। आधुनिकता के मौलिक सांस्कृतिक पुनराविष्कार की गाँधी-टैगोर-अम्बेडकर जैसे पहलकदमियों को औपनिवेशिक टाई-सूट पहने लोग पहले ही निष्फल कर चुके हैं। इसमें यूरोप की नीट पीने वालों का योगदान भी कोई कम नहीं है।

■

आधुनिकता के अन्तर्द्वन्द्व

सुनीता सृष्टि

हमारे समय का यह कैसा विरोधाभास है जहाँ एक तरफ मनुष्य अन्तरिक्ष में बसने की तैयारी में है और दूसरी तरफ अमृत स्नान के नाम पर प्रदूषित जल में डुबकी लगाने के लिए पागल हुआ जा रहा है, कृत्रिम मेधा के द्वारा अपनी गति को अपरिमित विस्तार देने को प्रस्तुत है, दूसरी तरफ जमीन के नीचे इतिहास के अवशेष ढूँढ़कर वर्तमान की गति को पीछे की तरफ मोड़ने को उद्धत है। वैज्ञानिकता और आस्था का यह अजीब घालमेल है।

आधुनिकता के विरोधाभास को समझने के लिए आधुनिकता की अर्थवत्ता को समझने की जरूरत है। अपने शाब्दिक अर्थ में आधुनिकता समयानुकूल होने में है, पर ऐतिहासिक नजरिये से यह युगबोध से जुड़ी एक अवधारणा है।

यह वैज्ञानिक चेतना और तार्किकता थी जिसके बल पर मनुष्य ने मध्यकालीन जड़ता, रूढ़ियों और अन्ध परम्पराओं से मुकाबला करते हुए आधुनिक युग में प्रवेश किया। मानव सभ्यता का विकास उसके क्रमशः विचारवान और विवेकशील होने का है।

आधुनिकता हर प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध समता और मुक्ति का सन्देश लेकर आयी और संस्कृति में उसने मानवीयता का उच्च मूल्य स्थापित किया। यह परियोजना लम्बी चली–उन्नीसवीं सदी से लेकर बीसवीं सदी तक। किन्तु यह समाज को पूरी तरह बदल पाती इससे पहले ही इसमें कई दूसरी चीजें शामिल होती चली गयीं और यह अपनी मूल राह से भटक गयी।

आधुनिकता अपने साथ समता का जो उच्च मानवीय सन्देश लेकर आयी, उसने स्त्रियों के लिए मुक्ति का द्वार खोल दिया। सदियों से स्त्री पर जो पहरे लगाये गये थे, उन पर सवाल उठने लगे। समाज समझ रहा था कि आधी आबादी को मुक्त किये बिना समाज की मुक्ति सम्भव नहीं, सन्तान को संस्कार देने के लिए माता का शिक्षित होना जरूरी है। तो राष्ट्र के उद्धार के लिए और सन्ततियों के व्यक्तित्व के विकास के लिए नारी-मुक्ति की अनिवार्यता महसूस की गयी। इसलिए आश्चर्य नहीं कि स्त्री-मुक्ति की प्रारम्भिक आवाजें पुरुषों द्वारा उठायी गयीं। किन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक तक आते-न-आते यह बागडोर स्त्रियों ने अपने हाथ में ले ली और बीसवीं सदी में कई महत्त्वपूर्ण स्त्री-आन्दोलन हुए। आजादी के बाद कुछ समय के लिए यह आवाज मन्द तो पड़ी, किन्तु अवसर आते ही स्त्रियों ने बार-बार अपनी आवाज बुलन्द की। बीसवीं सदी का सातवाँ-आठवाँ दशक कई महत्त्वपूर्ण स्त्री-आन्दोलनों का गवाह रहा। किन्तु नौवें दशक में स्त्री-आन्दोलन मन्द पड़ गये। इसके कई कारण रहे। यही समय था जब आधुनिकता की राह बंकिम हो गयी। आधुनिकता का मूल तत्त्व संशय था। उपभोक्तावाद ने उसकी राह कुंठित कर दी और वह सुखवाद और आध्यात्मिकता के ब्लैक होल में विलुप्त हो गयी।

अब आया बाजार। बाजार तो पहले भी था, पर तब वह जरूरत था–अब वह मूल्य बन गया, बल्कि जीवन की धुरी बन गया। आज इसकी परिणति यह है कि पहले बनिया एक समुदाय होता था, अब हर कोई व्यापारी बन गया–डॉक्टर, शिक्षक जैसे पेशे भी अपनी पारम्परिक गरिमा को भूलकर वे सारे (कु) कर्म करने लगे जो अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाने के लिए जरूरी होता

लेखिका पेशे से हिन्दी की प्राध्यापिका हैं और आलोचना तथा कथा लेखन में सक्रिय हैं।
+919473242999
sunitag67@gmail.com

है। राजनीति के साथ पूँजी का जो गठजोड़ कभी लुके-छिपे होता था, अब वह खुलेआम ही रहा है। कहीं पैसे से डिग्रियाँ खरीदी जा रही हैं, कहीं दूल्हे तो कहीं जनप्रतिनिधि! हर प्रकार की नैतिकता से परे उपभोक्तावाद सबके सर पर सवार है और सादगी के मूल्य जीवन से बहिष्कृत हो गये हैं। जो बाजार सप्ताहान्त या सप्ताह में एक-दो बार लगते थे, अब वे मॉल के लुभावने रूप में परिणत हुए, फिर संचार क्रान्ति के पंखों पर सवार होकर हमारे बेडरूम में प्रवेश कर गये और हमारी उँगलियों से संचालित होने लगे हैं।

इन नयी परिस्थितियों में समाज में आमूल चूल परिवर्तन आया और पारम्परिक मूल्यों में तेजी से विघटन हुआ। जहाँ तक स्त्रियों की बात है तो इसका फायदा उन्हें यह मिला कि वे जकड़नें जिनसे मुक्त करने के लिए पितृसत्ता अभी प्रस्तुत नहीं थी, वे एक झटके से टूट गयीं और घर के दरवाजे स्त्री के लिए खुल गये। तकनीक ने भी स्त्री को घर और उसकी असमाप्त जिम्मेदारियों से मुक्ति दिलाने में बड़ी मदद की। कूकर हो या वाशिंग या मिक्सी ग्राइंडर जैसे मशीनी साधन, कौन इनकार कर सकता है कि रसोई और घर से मुक्त कर स्त्री के लिए स्पेस उपलब्ध कराने में इनकी कितनी बड़ी भूमिका रही। आधुनिकता के तमाम दावों के बावजूद पितृसत्ता स्त्री को घर से मुक्त करने को प्रस्तुत नहीं थी। कभी उसे असुरक्षा का भय दिखाया गया, कभी माता की भूमिका याद दिलायी गयी और कभी संस्कृति और मर्यादा की दुहाई दी गयी। यह साजिश भाषा में भी चली-मर्यादा और संस्कृति शब्द यूँ ही स्त्रीलिंग नहीं हैं! यहाँ पितृसत्ता ने एक बड़ी साजिश की। पुरुष ने स्त्री पर घर की सारी जवाबदेहियाँ सौंपकर अपने को आजाद कर लिया। क्षमा शर्मा का सवाल बहुत वाजिब है–''क्यों बाहर के सारे सुख पुरुषों के लिए और घर के सीलन-भरे अँधेरे कोने स्त्रियों के लिए?'' पुरुष के सारे कुकर्मों के बाद भी न संस्कृति पर आँच आती है न मर्यादा खण्डित होती है! यह सब कुछ स्त्री के हिस्से कर वह स्वयं मुक्त था। अब जब स्त्री आजादी माँगने लगी और उसे घर टूटने का भय सताने लगा तो वह मर्यादा की बात करने लगा बिना इस दायित्वबोध के कि घर जितना स्त्री का है, उतना ही पुरुष का भी, और उसकी भी घर के प्रति जवाबदेही होनी चाहिए। भला हो उस बाजारवाद और उदारीकरण का जिसने एक झटके से परम्परा की सारी दीवारें ध्वस्त कर दीं।

अब स्त्री थी और उसके सामने एक खुली दुनिया थी, और था बाजार। किन्तु यह बाजार भी पितृसत्ता से संचालित था। नतीजा-मुक्त होती स्त्री को बाजार ने लपक लिया और वह एक बार फिर गुलाम बना ली गयी और इस बार उसमें उसकी अपनी मर्जी शामिल थी। उसे विज्ञापनों में जलील किया गया, विश्वसुन्दरी का तगमा देकर बन्धक बनाया गया और नाना प्रकार के सौन्दर्य सामग्रियों के द्वारा उसे लूटा जा रहा है। तमाम तरह के प्रसाधनों से लैस वह अपने-आपको आधुनिक मान रही है जबकि सच यह है कि वह फिर वहीं आ खड़ी है जहाँ से उसने अपने आधुनिक होने की यात्रा शुरू की थी–अर्थात रीतिकालीन नायिका की भूमिका में आ कर वह देह तक सिमट गयी है। आधुनिकता की यह स्त्रीवादी विडम्बना ही तो है! व्यक्ति बनते-बनते वह बाजार की चपेट में आ जाती है और करवा चौथ का व्रत करने लगती है। अब करवा चौथ में संस्कृति का तत्त्व कितना है और बाजार का कितना, यह कौन बताये! सवाल यह है कि क्या बाजार को अनिवार्यतः स्त्री-विरोधी माना जाये? यह ठीक है कि बाजार की नजर स्त्री की देह पर होती है और उसकी देह का इस्तेमाल कर उसे पण्य वस्तु में परिणत कर देता है। किन्तु कहीं ऐसा तो नहीं कि बाजार का भय दिखाकर पितृसत्ता फिर से स्त्री को घर में लौटा लाना चाहती है ताकि उसकी खुद की मुक्ति निर्बाध बनी रहे और वह घर के प्रति निश्चिन्त रहे? बाजार स्त्री के लिए यदि चुनौती है, तो वह चुनौती पुरुष के लिए भी है! स्त्री को इसकी साजिश को समझना होगा। सफलता का शॉर्टकट उसे अवमूल्यन की दिशा में ले जाएगा, इसे समझे बिना मुक्ति की राह सम्भव नहीं।

बकौल प्रख्यात आलोचक डॉ. शम्भुनाथ, आज तर्क उन्माद में और मूल्य छद्म में परिणत हो गये हैं–ऐसे में संस्कृति की राह बहुत जटिल हो गयी है। कला-साहित्य के सूक्ष्म तन्तुओं से संस्कृति का कैनवास निर्मित होता है जिसमें विचार का अन्तःसूत्र विद्यमान होता है। संस्कृति उच्च मूल्यों का समन्वय होती है। उसके सरोकार में व्यापक मानवीय हित शामिल होते हैं। बाजार ने संस्कृति का अवमूल्यन किया है और उसे भी विक्रय की वस्तु बना दिया है। बाजार और मानवीय सरोकार परस्पर विरोधी तत्त्व हैं–बाजार का लक्ष्य मुनाफा है और बाजार यदि मानवीय सरोकार के मूल्य को शामिल करने लगे तो उसका मुनाफा प्रभावित होगा जो उसे स्वीकार नहीं होगा। तो मध्यकाल से आगे आधुनिकता की यह यात्रा आज एक विकट पथ पर है। मुक्ति के लिए कोई सपना होना चाहिए, अन्यथा वह अराजकता में परिणत हो जाती है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य सामाजिक सरोकार से मुक्त होकर 'मेरी मर्जी' में सिमट गया है जहाँ सिर्फ और सिर्फ 'मैं' है। प्रसाद ने 'सुख से सूखे जीवन में' आँसुओं के 'प्रभात हिमकण'-सा बरसने की कामना की थी–आज का शुष्क सुख आनन्द से परे एक निर्द्वन्द्व अट्टहास में परिणत है। मानवीय संवेदना से रहित इस अट्टहास में हास्य उपहास बन गया है और उपहास में हिंसा के तत्त्व अनायास ही शामिल हो जाते हैं। हम इतना हँसने लगे हैं कि रोना भूल गये हैं। रणवीर अल्लाहबादिया की अश्लीलता और निर्लज्ज हँसी एक दिन की उपज नहीं है। समूचा समाज कॉमेडी शो में शामिल हो दुनिया-भर की स्टैण्ड अप कॉमेडी, सिद्धू, अर्चना पूरन सिंह और कपिल शर्मा की 'हो-हो' करती विचारहीन हँसीवाले विख्यात शो से होते हुए 'बेशर्म रंग' हो रहा है। सौन्दर्यानुभूति की जगह उत्तेजना ने ले ली है, सौन्दर्य अभिभूत करने से आगे बढ़कर उपभोग बन गया है और 'सेक्सी-सेक्सी' जैसे गीत बच्चों के मासूम होंठों पर सवार हैं। बाजार देह और अनुभूति दोनों का अतिक्रमण कर अश्लीलता के उस चरम पर पहुँच रहा है जहाँ से आगे निर्लज्ज पशुता की राह ही शेष दिखती है। अश्लीलता का अवश्यम्भावी प्रभाव स्त्री पर पड़ रहा है और कोई आश्चर्य नहीं कि स्त्रियों पर हिंसा बढ़ी है। आधुनिकता की यह परिणति तो नहीं होनी थी! स्पष्ट है कि हमारे समाज में आधुनिकता की प्रक्रिया पूरी नहीं हो पायी–यही कारण है कि सामन्ती और

पितृसत्ता के अवशेष समाज में बचे रह गये जो समय-असमय सुप्त विषाणुओं की तरह सर उठाते रहते हैं। हाल ही में एल एण्ड टी के निदेशक एस.एन. सुब्रह्मण्यन की यह टिप्पणी कि रविवार को आप पत्नियों को कितना निहारेंगे, पितृसत्ता और बाजार का क्रूर और निर्लज्ज कॉकटेल ही है। यह स्त्री पर अभद्र टिप्पणी तो है ही, समाज और परिवार भी यहाँ गायब है, नजर सिर्फ और सिर्फ मुनाफे पर है।

इसके पहले कि व्यक्ति सामन्ती मानसिकता से पूरी तरह मुक्त हो वैज्ञानिक चेतना और मानवीय विवेक के साथ आधुनिक होता, बाजार और तकनीक जीवन में शामिल हो गये। सामन्ती मानसिकता और पितृसत्ता में गहरा गठजोड़ होता है–दोनों की आधारभूमि एक ही होती है। बदलाव और व्यापक रूपान्तरण से गुजरे बिना आधुनिक होने की प्रक्रिया की अनिवार्य परिणति यह हुई कि आधुनिकता कपड़ों, अँग्रेजियत और आडम्बर का पर्याय बन गयी। बौद्धिक दरिद्रता की इस पूँजी का बाजार ने भरपूर दोहन किया। ऐसे ही समाज में कोरोना गो, रिकॉर्ड तोड़ दीपोत्सव और अमृत स्नान का विराट आडम्बर सम्भव हो सकता है! संस्कृति से विचार और मूल्य गायब हो गये हैं और वहाँ आडम्बर शामिल हो गया है। संस्कृति के नाम पर बाजार और राजनीति का खेल चल रहा है और विवेक को ताख पर रख लोग उसमें शामिल हो रहे हैं। नवजागरण के सुदीर्घ और महान प्रयासों से हमने मध्ययुगीन जड़ता और अन्धविश्वासों से मुक्ति पायी थी, वे एक बार फिर जीवन में शामिल हो रहे हैं और पूरे तामझाम के साथ। संस्कृति और परम्परा के नाम पर लोक-पर्वों और उत्सवों को इवेण्ट बनाया जा रहा है। यहीं से संस्कृति का बाजारीकरण भी सम्भव हुआ। रचनाशीलता का स्थान बाजार ने ले लिया। हमारे पहनने से लेकर घर की सज्जा, त्योहार और उत्सव में पैसा फेंको और तमाशा देखो का खेल शामिल है। महत्त्व रचनात्मकता का नहीं, चयन का रह गया है।

नब्बे के दशक में ही बाजारवाद के साथ संचार क्रान्ति भी आयी। समूचा विश्व संचार के एक सूत्र में बँध गया। भारत के बन्द समाज में इसका प्रतिफलन यह हुआ कि इण्टरनेट पर सब कुछ ओपेन था पर समाज में उसकी स्वीकृति नहीं थी। इस कारण भी स्त्री पर हिंसा बढ़ी है। सोशल मीडिया इक्कीसवीं सदी की संस्कृति है। इसने लोकतान्त्रिक स्पेस तो सुलभ कराया, पर केन्द्रीय नियन्त्रण के अभाव में अराजकता भी फैलायी। कभी अज्ञेय ने कहा था कि हमें नये बिम्ब तलाशने होंगे क्योंकि देवता इन प्रतीकों से कर गये हैं कूच। तेजी से विस्तृत होते बाजार की संस्कृति में बड़ी होती नयी पीढ़ी नवीनता तलाशते वहाँ खड़ी है जहाँ गाली बिना बात नहीं बनती। गाली भी आज की नयी संस्कृति है। और गालियों का समाजशास्त्र बताता है कि इनकी दुनाली स्त्री की ओर ही होती हैं। गाली की यह हिंसा पहले भाषा में प्रवेश करती है और फिर जीवन में जगह बनाती है। सोशल मीडिया पर हाल में घटित कई घटनाएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यहाँ भी स्त्री की मर्यादा दाँव पर लगायी जा रही है।

ऐसे में स्त्री कहाँ खड़ी है? उसने पाया कि पितृसत्ता की संरचना में बदलाव के बिना जो बाजार और तकनीक आयी, उसे पितृसत्ता द्वारा हथिया लिया गया और इनको उसके दोहन का माध्यम बनाया जा रहा है। बाजार उसकी देह का इस्तेमाल कर रहा है तो तकनीक का उपयोग भी उसके विरुद्ध हो रहा है। कितना आसान हो गया है जन्म से पहले कोख में ही स्त्री को मार डालना! और अब निर्बन्ध आभासी दुनिया है जहाँ कितना आसान है स्त्री को नंगा किया जाना। और संस्कृति? वह स्त्री के पक्ष में थी ही कब? धर्म, परम्परा, इतिहास और मर्यादा–ये सब पुरुष निर्मितियाँ हैं इसलिए अनायास नहीं कि ये स्त्री-विरोधी हैं। इनका उपयोग स्त्री की चारों तरफ लक्ष्मण रेखा खींचने में हुआ। विभिन्न शोधों में यह प्रमाणित हो चुका है कि धर्म और परम्परा ने सबसे ज्यादा स्त्री को बाँधा है। सदियाँ लगीं स्त्री को इस साजिश को समझने में। अब बाजार है पितृसत्ता का आगामी विस्तार। पर अब वह सजग है। बाजार की साजिशों को भी वह समझ रही है। वस्तुतः समझ तब विकसित होगी जब सामना करने का अवसर मिलता है। वह औरों की तरह बाजार से अभिभूत नहीं है, ऐसा नहीं है, पर अब वह उसे समझने लगी है, और मुकाबला कर अपनी राह भी निकाल रही है। प्रतिष्ठित कवयित्री पूनम जी की एक कविता है–''अजन्ता की गुफाओं से मुक्त होती इस स्त्री को देखो/ अब वह समर्पण का शिल्प नहीं/ प्रतिरोध का नया स्वर है।'' हर बदलाव की समानान्तर कई भूमियाँ होती हैं। बदलाव की प्रक्रिया से गुजर रहा समाज कई अतिरेकों से भी गुजरता है। कुछ समय बाद थिरता आती है और अतिरेक से परे एक पुख्ता जमीन हासिल होती है। स्त्री मुक्ति भी अपने अतिरेक के दौर से गुजर रही है। इस पर कई तरह के आक्षेप लगाये जाते रहे हैं। अब यह कहा जाने लगा है कि बहुत हुआ स्त्री-विमर्श, अब और इसकी जरूरत नहीं। स्त्री-विमर्श ने स्त्रियों को पाँवों के नीचे ठोस जमीन तो उपलब्ध करायी है किन्तु मध्यवर्ग की स्त्रियों की बदलती दुनिया से परे एक बड़ी दुनिया गाँव देहात की है जहाँ समय ठहरा हुआ है। दूसरी तरफ एक दुनिया महानगरों और बड़े शहरों की है जहाँ स्त्रियाँ सामाजिक-पारिवारिक दायित्व को नकारते हुआ निर्बन्ध जीवन और आत्मकेन्द्रित सुखवाद में मुक्ति को परिभाषित कर रही हैं। मुक्ति की मुक्कमल राह इन दोनों के बीच कहीं है, और जब तक यह हासिल नहीं हो जाती, तब तक स्त्री-विमर्श की जरूरत कैसे खत्म हो जाएगी। ■

संस्कृति के नाम पर बाजार और राजनीति का खेल चल रहा है और विवेक को ताख पर रख लोग उसमें शामिल हो रहे हैं। नवजागरण के सुदीर्घ और महान प्रयासों से हमने मध्ययुगीन जड़ता और अन्धविश्वासों से मुक्ति पायी थी, वे एक बार फिर जीवन में शामिल हो रहे हैं और पूरे तामझाम के साथ। संस्कृति और परम्परा के नाम पर लोक-पर्वों और उत्सवों को इवेण्ट बनाया जा रहा है। यहीं से संस्कृति का बाजारीकरण भी सम्भव हुआ।

अपसंस्कृति और उभरता बाजारवाद

किरण मिश्र

पुरातन मूल्यों के टूटते बाजार और नये व्यावसायिक मूल्यों के आने से बैचेनी से भरे इस समय में बाजार की स्थिति बेहद विषम है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान में बाजार ने भारतीय समाज को एक दिशा दी है, लेकिन वह स्वयं दिशाहीनता की विडम्बनाओं से घिरा हुआ है फलस्वरूप उपभोक्ता को पता ही नहीं कि उसका लक्ष्य क्या है? उसे ग्राहक बनना है या उपभोक्ता?

कुछ वर्ष पूर्व एक विज्ञापन में आवाज गूँजी थी दुनिया मुट्ठी में कर लेने की। देखते-देखते सारी दुनिया मुट्ठी में थी। बाजार की मुट्ठी में आँगन था, आँगन में कितनी खुशियाँ कहाँ से आनी है, कितनी आनी है, कब आनी है यह तय बाजार ही कर रहा था। उपभोक्ता अपनी खाली मुट्ठी के साथ ठगा हुआ खड़ा था।

संकुल संस्कृति की शिकार हुई सबसे पहले वह सार्वजनिक जगह थी जो बौद्धिक लोगों को ही नहीं उनको सुनने वालों से भरी होती थी। फिर धीरे-धीरे बड़े से बरामदे, अहातों वाली इमारतें, बाग-बगीचे, खुले मैदान और वह छोटी दुकानें जिन पर पाँच पैसे के कम्पट और खट्टी-मीठी गोलियाँ मिला करती थी बाजारवाद की शिकार थीं।

आखिर यह हुआ कैसे और क्यों हुआ को जानने से पहले बाजारवाद क्या है वह जान लेते हैं।

वह मत या विचारधारा जिसमें जीवन से सम्बन्धित हर वस्तु का मूल्यांकन केवल व्यक्तिगत लाभ या मुनाफे की दृष्टि से ही किया जाता है; मुनाफा केन्द्रित तन्त्र को स्थापित करने वाली विचारधारा; हर वस्तु या विचार को उत्पाद समझकर बिकाऊ बना देने की विचारधारा।

बाजार और संस्कृति का आपस में जुड़ना एक जटिल प्रक्रिया है जो समाज के कामकाज और विकास को आकार देती भले ही लगे लेकिन इस आकार में जो विकार है उसकी कीमत हमें पूरी-की-पूरी सभ्यता को खोकर चुकानी पड़ती है। किसी भी देश की पहचान उसकी संस्कृति, सांस्कृतिक परम्पराओं और परिपाटियों से बनती है।

संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाज, मूल्य और कला जैसे अपने बहुआयामी तत्त्वों के साथ, एक देश प्रगति करता है। भारत सदियों से एक पारम्परिक किस्म की जीवन-शैली और उत्सव की संस्कृति जीता आया है, लेकिन आज बाजार उससे उसके त्योहारों को मनाने के तरीके बता रहा है। बाजार के सबसे उल्लेखनीय प्रभावों में से एक त्योहारों का वस्तुकरण है। कई त्योहार अपने उत्पादों को बढ़ावा देने और बेचने के लिए आकर्षक व्यावसायिक अवसर बन गये हैं। यह व्यापक विपणन अभियानों, प्रायोजित कार्यक्रमों और त्योहारों के मौसम के दौरान उपभोक्ता वस्तुओं की आमद में स्पष्ट है। इसने स्थानीय बाजारों और उद्योगों में आर्थिक जीवन-शक्ति का संचार भले ही किया है या ऐसा लगता है, इसने त्योहारों के मूल सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सार को कम भी किया है जो चिन्ता का विषय है। पर्व ग्लोबल ब्राण्ड बन चुके हैं तो पूजा पण्डाल ग्लैमर से ओतप्रोत नजर आते हैं तो करवाचौथ जैसे व्रत स्टेटस सिम्बल की परिघटना। बाजार विकास को जन्म देता है, एक ऐसे विकास को जिसमें

लेखिका प्राध्यापक और समाजशास्त्री हैं।
+91 9990672184
kiranpmg@gmail.com

इन्फ्रास्ट्रक्चर मुहैया कराने के नाम पर खुद रही सड़कें, नवनिर्माण के चलते न जाने कितने तालाब और झीलें पाट दी गयी हैं। बाजार ने बेलौस जिन्दगी छीन ली है। हर कोई भाग रहा है, या यूँ कहें कि बाजार भगा रहा है। एक ग्लोबल किस्म की उपभोक्ता संस्कृति को जन्म देते बाजार ने प्राचीन हुनरमन्द हाथों के श्रम-संगीत का नैरन्तर्य भंग किया है।

पिछले कुछ दशकों से बाजार ने ग्राहक को उपभोक्ता बनाकर व्यक्तित्व ही बदल दिया है। अब वह खरीददारी करता ग्राहक नहीं खुद माल बन गया है जिसे बाजार अपने ढंग से बेचता-खरीदता है। बड़े-बड़े रिहायशी इलाके, अपार्टमेण्ट, पाँच सितारा होटल, मॉल, शोरूम, मल्टीप्लेक्स, मैकडोनाल्ड मध्यमवर्ग के मन-मस्तिष्क को संकुचित-संकीर्ण कर रहे हैं। बाजारवाद ने नवाचारों के माध्यम से महत्त्वाकांक्षाओं को जन्म दिया है, जो सरसरी तौर पर गलत नहीं लगती है, लेकिन जब यही महत्त्वकांक्षाओं के आगे 'अति' लग जाता है तो यह तीव्रता उत्पन्न करता है। उपभोक्ता अपनी आकांक्षाओं के बोझ तले दबा रुग्ण हो जीने पर मजबूर है। कहना होगा कि बाजारवाद का शिकार हो विश्व आज उच्च आकांक्षाओं के संकट से गुजर रहा है।

ऐसा नहीं है कि हमारी संस्कृति में कभी बाजार का अस्तित्व नहीं था। बाजार का पहला प्रमाण हम पाषाण युग के उत्तरार्ध में और उसके बाद भी देख सकते हैं। कई ग्रन्थों में काशी, पाटलिपुत्र, वैशाली, श्रावस्ती शहरों में बाजार का अस्तित्व देख सकते हैं। लेकिन उस समय का बाजार व्यक्ति की जरूरत को पूरा करने का लेन-देन था। जिसमें प्रवेश करते समय व्यक्ति कुछ लेकर आता था तो कुछ लेकर जाता भी था। आज भूमि और श्रम-शक्ति के अलग बाजार बनाकर उसको प्रकृति से विलग कर दिया है। बाजार के साथ लगे वाद ने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों को नकार दिया है। समाज बाजार की आवश्यकताओं से निर्मित हो रहा है बाजार समाज की आवश्यकताओं से नहीं इसलिए जबरदस्त प्रतिस्पर्धा है जो नये-नये हथकण्डों को जन्म दे रही है। कहीं संस्कृति तो कहीं समाज तो कहीं राष्ट्र को इस बाजारवाद का शिकार बनाया जा रहा है। बाजार पूरब की अवधारणा थी जो अब पच्छिम के रंग में रँग चुकी है, जो एक ऐसी संरचना को जन्म दे रही है जिसके परिणाम आने वाली पीढ़ी के लिए बहुत ही भयानक होंगे। इस चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए जरूरी है कि हमें खोये अर्थ की तलाश करनी होगी। उपभोक्ता बनकर नहीं मनुष्य बन कर जीना नये सिरे से सीखना होगा। जीवन बाजार से बाहर बहुत विशाल है उसे विस्तार से जोड़ना है वाद से नहीं।

मनुष्य ने अपनी सामाजिकता और सामुदायिकता के लिए बाजार बनाया, पर आज बाजार मनुष्य के ऊपर उसकी सीमाओं के पार उसी का शोषण करने का माध्यम बन गया है।

पुरातन मूल्यों के टूटते बाजार और नये व्यावसायिक मूल्यों के आने से बेचैनी से भरे इस समय में बाजार की स्थिति बेहद विषम है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान में बाजार ने भारतीय समाज को एक दिशा दी है, लेकिन वह स्वयं दिशाहीनता की विडम्बनाओं से घिरा हुआ है फलस्वरूप उपभोक्ता को पता ही नहीं कि उसका लक्ष्य क्या है? उसे ग्राहक बनना है या उपभोक्ता? दरकती हुई पुरातन व्यवस्था और पनपती हुई नवीनता के बीच उसको क्या चाहिए या कि उसकी प्राथमिकता क्या है वह तय ही नहीं कर पा रहा है। परिवार, समाज, कला, साहित्य की ही तरह बाजार के भी पक्ष व प्रतिपक्ष हो सकते हैं, निम्न-मध्यम वर्ग से नीचे 'लघु मानव' इस बाजारवाद के समय कहाँ है उनकी जीवन-शैली, मूल्य, संस्कृति और उनकी जरूरतों की भरपायी बाजार किस तरह किस रूप में कर रहा है यह देखना वर्तमान समय में जरूरी है। इस नये जीवन की रूपरेखा में 'लघु मानव' का महापरिवर्तन होता है या महाविध्वंस यह ही भारत का भविष्य तय करेगा। बाजार का कालकूट के अवलेप का प्रस्तार जारी है अब यह हम पर है कि हम इसे कैसे रोकते हैं।

भौतिकता में उलझे बेतहाशा भागते मन से विगत के पदचिह्नों को मिटा बाजारवाद आगत को छिपा रहा है उसके मुखौटे के पीछे छिपे चेहरे को रुक के देखें तो सही भविष्य के संकेत कुछ ठीक नजर नहीं आते।

■

सबलोग के महत्त्वपूर्ण अंक

लोकतन्त्र और आतंकवाद
महात्मा का हिन्द स्वराज
भाषा, विचार और लोकतन्त्र
आम आदमी और खाद्यान्न संकट
बिहार का सच और संकट
नक्सलवाद और राजसत्ता
उच्च शिक्षा का बाजारीकरण
आधी आबादी का संघर्ष
जाति का जहर
मीडिया का छल
भारत में मुसलमान
आदिवासियत पर आँच
वामपन्थ का भविष्य
भ्रष्टाचार के इस भीषण दौर में
साम्राज्यवाद बनाम स्वराज
पंचायती राज की मुश्किलें
यौन हिंसा के विरोध में
अभिव्यक्ति, आजादी और अराजकता
पड़ोसी देश और भारत की विदेश नीति
नेहरू की विरासत और सियासत
भारत में जन आन्दोलन
पार्टी, विचारधारा और लोकतन्त्र
दलित राजनीति की समकालीनता
अभिव्यक्ति, सरकार और सरोकार

sablogmonthly@gmail.com

सम्पादकीय सम्पर्क
बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,
रोहिणी, दिल्ली-110089
+ 918340436365

सदस्यता शुल्क
एक अंक : 50 रुपए
वार्षिक : 600 रुपए
रजिस्टर्ड डाक खर्च समेत : 1100 रुपए

संस्कृति, बाजार और गाँधी

श्वेता कुमारी

आज की उपभोक्तावादी प्रवृत्ति, जहाँ लोग अपने सुख और इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनावश्यक चीजों पर फिजूल खर्च करते हैं, गाँधी के 'स्वदेशी' और 'सादगी' के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। उनके अनुसार, सच्ची अर्थव्यवस्था केवल भौतिक सम्पन्नता तक सीमित नहीं हो सकती, यह आत्मनिर्भरता, न्याय और नैतिकता पर टिकी होनी चाहिए। जब उपभोक्ता अपनी जरूरतों और इच्छाओं के बीच सन्तुलन नहीं बना पाते, तब समाज लालच और भय के गुंझल में फँस जाता है।

आज की तिथि में बाजार ही सब कुछ है। लेवायथन रूपी पूँजीवाद का सबसे अहम् रूप यही बाजार है, जहाँ हर चीज उपलब्ध है। इस बाजार में क्या वास्तव में जरूरत की चीज है और क्या केवल जरूरत का छद्म मुखौटा, यह कहना कठिन है। बाजार जरूरतों पर चलता है, लेकिन माँग और पूर्ति का नियम जितना साधारण दिखता है, उतना असल में है नहीं, क्योंकि जरूरतें स्वयं बाजार तय करता है। आधुनिकता और संस्कृति भी बाजार से गहरे जुड़े हैं। ''जो दिखता है, वही बिकता है''–इस मानसिकता से बाजार ग्रसित है, और यदि इसे गहराई से समझा जाये, तो स्पष्ट होता है कि यहाँ केवल वस्तुओं की नहीं, बल्कि मूल्यों के बिकने की भी बात हो रही है। ऐसे में गाँधी को याद करना स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि हिन्द स्वराज में उन्होंने जिस प्रकार पश्चिम की आधुनिकता और बाजारवाद की आलोचना की है, वह केवल सतही नहीं, बल्कि उसमें गहरी दृष्टि और दूरदर्शिता झलकती है। यही बाजारवाद है जो 'वाद' या 'इज्म' के रूप में गाँधी को भी बेच रहा है। सुधीर चन्द्र अपनी पुस्तक गाँधी के देश में इस पहलू पर प्रकाश डालते हैं कि कैसे गाँधी स्वयं को 'गाँधी' बनाने में ताउम्र लगे रहे, जबकि बाजार ने एक झटके में 'गाँधीवाद' की दुकान खोल दी। हर चीज बिक रही है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि बाजार इतना सफल कैसे है सब कुछ बेचने में? बाजार असुरक्षा की भावना पर काम करता है। वह बखूबी जानता है कि इच्छाएँ और अभिलाषाएँ किस प्रकार पैदा करनी हैं। एक छोटी-सी गलत खबर कि नमक खत्म हो सकता है, लोग नमक को जोड़ना शुरू कर देते हैं। जबकि नमक रेयर वस्तु में भी नहीं आता। बाजार के हम बस कठपुतली रह गये हैं। फ्री विल का विमर्श बिना बाजार के सम्भव ही नहीं है। बाजार खाने की थाली से लेकर बेडरूम तक आ गया है। हम किससे कैसे मिलेंगे? क्या पहनेंगे? किस तरह पेश आएँगे? किस तरह विदा करेंगे? किस तरह किसी त्योहार को मनाएँगे? किसे जीवनसाथी के रूप में चुनेंगे? इन सबकी एक लम्बी फेहरिस्त हो सकती है। हर चीज पर बाजार का नियन्त्रण है। रोजमर्रा के जीवन में शायद ही हम अपनी आदतों और व्यवहार पर गौर फरमाते हों। गौर करने के लिए किसी चीज का असामान्य भी नजर आना जरूरी है। यह सब इतना आत्मसात हो चुका है कि सब सामान्य लगने लगा है। इतना सामान्य कि इन पर सन्देह या प्रश्न उठाना ही असामान्य लगता है। बाजार गहरे चेतना तक अपनी पैठ बना चुका है।

आधुनिक होना क्या है? क्या यह जड़ता से परे जाने की प्रक्रिया नहीं है, जहाँ एक खुले मन से परिवर्तन को स्वीकार करना और समय के प्रवाह के साथ आगे बढ़ना बेहतर माना

लेखिका जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान विभाग में स्नातकोत्तर छात्रा हैं।
+91 9267901031
shwetajha847224@gmail.com

जाता है? यदि आधुनिकता का अर्थ यही है, तो गाँधी कम आधुनिक नहीं थे। बल्कि, वे अपने समय से कहीं आगे थे। भारतीय ज्ञान-परम्परा एक बहते नदी की तरह है और गाँधी ने इस धारा को सहजता से बहने में एक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। गाँधी आधुनिकता के उस पक्ष को स्वीकार करते थे जो आत्मावलोकन, नैतिकता और समाज की सामूहिक भलाई से जुड़ा था। लेकिन आधुनिकता के नैतिकविहीन और बाजार-केन्द्रित आयाम से उन्हें सख्त परहेज था। हिन्द स्वराज में उन्होंने जिस पश्चिमी आधुनिकता की आलोचना की, वह केवल तकनीकी प्रगति के विरोध में नहीं थी, बल्कि उस आधुनिकता के पीछे छिपे आत्महीनता, अनैतिक उपभोक्तावाद और अन्धाधुन्ध औद्योगीकरण के प्रति उनकी गहरी चिन्ता थी। गाँधी ने दुनिया के हर तरह के साहित्य को खँगाला था और उनसे प्रेरणा लेने से भी पीछे नहीं हटे थे। उनके लिए प्रकृति के साथ सामंजस्य बहुत जरूरी था। भलाई से उनका आशय केवल व्यक्तिगत भलाई नहीं था बल्कि वे तो सामाजिक भलाई के हिमायती थे और उससे भी आगे वे न केवल समाज की भलाई की बात करते थे, बल्कि यह भी मानते थे कि आधुनिकता बिना नैतिक आधार के, केवल एक दिशाहीन गति बनकर रह जाती है।

हाल ही में टाइम्स ऑफ इण्डिया के राष्ट्रीय संस्करण के सम्पादकीय में कैपशियस कंस्यूमर्स : ग्रीड, फियर एण्ड आर्ट ऑफ सपेंडिंग के नाम से सिवाकुमार सुन्दरम का एक लेख छपा था। उनका यह लेख एक दिलचस्प नजरिया प्रस्तुत करता है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था को नीतियों और विशेषज्ञता से अधिक लोभ और भय द्वारा संचालित किया जाता है। जब उपभोक्ता आशावादी होते हैं तो महँगी गाड़ियाँ, लक्जरी वस्तुओं को खरीदते हैं और स्टॉक मार्किट में पैसा निवेश करते हैं। लेकिन जब भय का माहौल होता है तो कहानी एकदम पलट जाती है। लोग आर्थिक मन्दी, महामारी या युद्ध का खतरा महसूस होने से नकद व अन्य सम्पत्तियों को किसी भी तरह से बचाने में लग जाते हैं। अगर यह सच है कि उपभोक्ता की प्राथमिकता नीतियों पर नहीं, बल्कि समाज में प्रचलित प्रवृत्तियों और व्यक्तिगत अभिलाषा पर निर्भर करती है तो गाँधी और भी प्रासंगिक हो जाते हैं। सुन्दरम बाजार के एक महत्त्वपूर्ण आयाम पर जोर देते हैं कि यदि कोई व्यक्ति यह देखता है कि उसका पड़ोसी एक नव एलइडी टीवी खरीद रहा है, ऐसे में उसके भीतर भी वैसी ही इच्छा जाग जाती है। यह बाजार में माँग की वास्तविक प्रकृति को दर्शाता है। सरकारें इसी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को हर तरह से भुनाने के लिए तमाम तरह की नीतियाँ बनाती हैं ताकि उपभोक्ता का अधिक-से-अधिक खर्च करना सुनिश्चित हो सके। इंसान के भीतर अभिलाषा है इसे कदापि नकारा नहीं जा सकता लेकिन अभिलाषा जब अति तक आ जाये तो समस्या का रूप ले लेती है। गाँधी इन इच्छाओं और प्रवृत्तियों पर संयम या सन्तुलन स्थापित करने की स्थिति पर जोर देते हैं। आर्थिक व्यवस्था केवल संख्याओं और नीतियों का ताना-बाना-भर नहीं है, बल्कि यह समाज के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से भी अथाहता से जुड़ी हुई है। आज की उपभोक्तावादी प्रवृत्ति, जहाँ लोग अपने सुख और इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनावश्यक चीजों पर फिजूल खर्च करते हैं, गाँधी के 'स्वदेशी' और 'सादगी' के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। उनके अनुसार, सच्ची अर्थव्यवस्था केवल भौतिक सम्पन्नता तक सीमित नहीं हो सकती, यह आत्मनिर्भरता, न्याय और नैतिकता पर टिकी होनी चाहिए। जब उपभोक्ता अपनी जरूरतों और इच्छाओं के बीच सन्तुलन नहीं बना पाते, तब समाज लालच और भय के गुंझल में फँस जाता है। गाँधी जी मानते थे कि आर्थिक विकास का अन्तिम लक्ष्य केवल उत्पादन और उपभोग नहीं, बल्कि मानवता की सेवा और तुष्टि की प्राप्ति होनी चाहिए। वे कहते थे कि ''पृथ्वी हर व्यक्ति की जरूतों को पूरी कर सकती है, लेकिन किसी के लालच को नहीं।'' आज की बाजार-चालित अर्थव्यवस्था में यदि इस सन्देश को आत्मसात किया जाये, तो शायद उपभोक्तावाद का यह बेतुका खेल समाप्त हो जाये और समाज अधिक सन्तुलित और सुसंगत बन सके। गाँधी का प्रसिद्ध कथन है कि ''कोई भी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती यदि वह स्वयं को विशिष्ट बनाये रखने का प्रयास करे।'' यह कथन कई गूढ़ अर्थों को छिपाये हुए है। आज का बाजार विशिष्टता की अवधारणा पर ही टिका हुआ है, जहाँ उपभोक्तावाद लोगों में विश्वास पैदा करता है कि विशिष्टता ही उत्कृष्टता का प्रतीक है, और इसी भावना को भुनाकर बाजार नयी-नयी वस्तुओं को आवश्यक बना देता है, जिससे उपभोक्ता लगातार असन्तोष और प्रतिस्पर्धा की भावना से ग्रसित रहते हैं। लकान का 'लैक' का सिद्धान्त यह बताता है कि इंसान हमेशा किसी-न-किसी चीज की कमी महसूस करता है। यह कमी पूरी तरह से कभी समाप्त नहीं होती क्योंकि हमारी इच्छाएँ बाहरी ताकतों द्वारा निर्मित होती हैं। लकान के अनुसार, यह कमी हमारी मानसिक संरचना से जुड़ी है, और इसी कारण हम हमेशा किसी-न-किसी चीज की तलाश में रहते हैं। डिजिटल दुनिया में 'आदर्श जीवन' को दिखाकर यह महसूस कराया जाता है कि हमारी जिन्दगी में कुछ कमी है। फोमो (फियर ऑफ मिसिंग आउट) कुछ और नहीं बल्कि इसी लैक का उदाहरण है, जिसमें लोग कभी सम्पूर्णता का अनुभव नहीं करते बल्कि यह सोचते रहते हैं कि उनसे कुछ-न-कुछ छूट रहा है। यह अधूरेपन की भावना गहरे अवचेतन मन में बिठा जाती है और जितना ज्यादा इस बाजार का हम हिस्सा बनते जाते हैं उतना ही अधूरेपन की भावना महसूस करते जाते हैं। लकान का 'लैक' और गाँधी का 'सन्तोष' एक-दूसरे के विपरीत दृष्टिकोण हैं। आज के दौर में, जब सोशल मीडिया और उपभोक्तावाद हमें लगातार 'लैक' की भावना में फँसा रहे हैं, गाँधी के विचार अधिक प्रासंगिक हो जाते हैं। फ्री विल का विमर्श भी गाँधी की आत्मनिर्भरता से जुड़ा है। इस विमर्श में आजादी एक मिथ्या है क्योंकि बाहरी शक्तियाँ भीतर की स्थिति को प्रभावित कर रही हैं। लेकिन गाँधी ने आत्मनिर्भरता और सादगी पर बल दिया, जिससे व्यक्ति बाहरी चीजों से परे जाकर आन्तरिक शान्ति पा सके।

■

तीन कविताएँ

उपांशु

जन्म: 2 फरवरी, 1994, पटना (बिहार)
शिक्षा : अँग्रेजी साहित्य से परास्नातक। अँग्रेजी विभाग, पटना विश्वविद्यालय में पी-एच.डी. कार्य जारी।
सदानीरा, हिन्दवी, कथादेश, पूर्वग्रह, रचना समय, इन्द्रधनुष एवं अन्य पत्र-पत्रिकाओं में कविता और कथा प्रकाशित। 2020 में 'ठहरना-भटकना' के नाम से कविता-संग्रह प्रकाशित। हाल ही में थॉमस हार्डी की कविताओं का अनुवाद इन्द्रधनुष में प्रकाशित। 2022 में ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस के लिए गंगा पर विख्यात अँग्रेजी पत्रकार विक्टर मैलेट की पुस्तक का 'जीवन मरण की नदी' नाम से अनुवाद कार्य सम्पन्न एवं प्रकाशन।
सम्प्रति : एमिटी विश्वविद्यालय पटना में अँग्रेजी के सहायक प्राध्यापक के रूप में कार्यरत।
सम्पर्क : m.upanshu@gmail.com / 9852468553

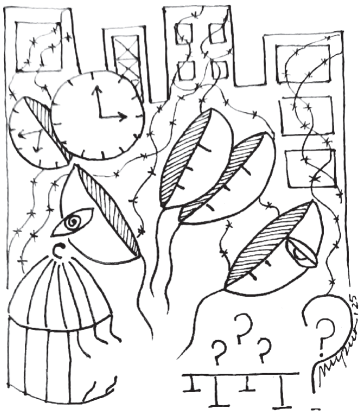

रेखांकन : **नूपुर अशोक**

उपांशु अपनी कविताओं में जीवन के उन रागों को गाते हैं, जिनके स्वरों को साधना और अभिव्यक्त करना सहज नहीं है क्योंकि इनकी बुनावट में संघर्षों, दुःखों और असफलताओं के तीव्र स्वर हैं। इन कविताओं में मनुष्य के प्रति आस्था का भाव कुछ इस तरह विन्यस्त है कि वह पाठक को निराश नहीं होने देता। उपांशु अपनी कविताओं में सहज भाषा में जीवन को रचते हैं। यह रचाव इसलिए अतिरिक्त रूप से प्रभावशाली हो उठता कि वे अपनी काव्य-भाषा में गद्य को भी साधते हैं। कविता में गद्य को साधना एक विलक्षण काव्य-युक्ति है और उपांशु इस युक्ति के कारण नये बिम्बों का सृजन भी करते चलते हैं।

समकालीन हिन्दी कविता के परिदृश्य पर जिन कुछ युवाओं की उपस्थिति आश्वस्तकारी है, उपांशु उनमें शामिल हैं।

-हृषीकेश सुलभ

सरल इच्छाओं के लिए

हर किस्म के दलदल में
अपने पाँव फँसा लेने के बाद,
मँडराते गिद्धों और गीदड़ों से
नुचवा लेने के बाद,
जब कभी इस शहर की सड़कों पर
निकलता हूँ,
भटकने का शौक जाग जाता है।
घर जैसा कुछ नींद से उठने के लम्बे अन्तराल
के बाद आयी स्मृति है दुःस्वप्न की,
मानो सुबह के उठे हुए को
कोई शाम की चाय पिलाते हुए पूछे–
कल रात नींद कैसी आयी थी तुम्हें।
तत्क्षण नालों के किनारे दुर्गन्ध में बहते हुए
आप घर-सा अपनत्व पूरे शहर के लिए
महसूस करते हैं।
दृश्य जिन्हें पीछे अपने बच्चे का हाथ थामे
चल रहा पिता, बताये गये राह से भटक जाने
पर उसे भयभीत करने के लिए याद रखेगा।
ऐसे दृश्य मन को बहलाये रखते हैं
गोया सुनसान किसी पर्वत पर गहन
बर्फबारी के बीच कोई झबरा कुत्ता
कम्बल-सा मुझसे लिपटा हुआ हो।
एक आवारगी ऐसी भी होनी चाहिए कि
सर के ऊपर छत
और देह को बन्द रखने वाली चारदीवारियों
की जगह
मिट्टी और घास के बिस्तर पर अन्तहीन
आकाश से लिपटा रहूँ।
तेज सर्द हवाओं का रूखा चुम्बन
मेरे होंठों की नमी सोखती रहे
और अलाव के सुख से वंचित हो जाने का
भय मेरा चर्म सीख ही न सके।

उम्र ढलती नहीं, मरती हैं कोशिकाएँ;
समय बीतता नहीं, नष्ट होता है हर क्षण;
संघर्षशील देह घड़ी का गुलाम बनाया जाता है
और चन्द अंकों के सहारे हर ज्यादती का
हिसाब कर लिया जाता है।

कितनी भी भींच लूँ इन मुट्ठियों को
उँगलियों के बीच वक्त छहलकर
सदानीरा ही रहता है।
मेरे गुलाम वर्ग के बाशिन्दे सेहतमन्दी की
कसमों से खुद को फुसलाते हैं
और खो देते हैं हर एक दिन खुद को बेहतर
बनाने की जुगत में।
बहरहाल जो भूखे थे, उनकी तरफ आज भी
कोई नहीं देखता।

के.एफ.सी. के बाहर कितने-कितने बच्चे
बिना चप्पलों के भीख माँगते हैं।

मैं नहीं कह रहा उन्हें पैसे दो या कुछ दिनों का
राशन दान कर आओ।
मैं खूबसूरत लिबासों में घूम रहे
प्रेमी युगलों को ग्लानि नहीं देना चाहता।
हो सकता है कि इन बच्चों के पास चप्पलें हों
और भीख इस तरह माँगना उनकी
मार्केटिंग स्ट्रेटेजी।
मैं केवल हँसना चाहता हूँ इस सोच के समक्ष
जो दया और ग्लानि के इस दैहिक कारोबार में
इस तरह के तर्क की क्षमता रखता है।
मैं पहुँचाना चाहता हूँ अपनी चीख उन मत सुन्न
बहरे सत्ताधारियों के कानों तक,
जिन्होंने पेटों की गुर्राहट को रीति-रिवाजों,
मन्त्रोच्चारणों, कुण्डलियों, उपदेशों और
प्राण-प्रतिष्ठाओं से शान्त किया है।
उन रकीबों को मेरा सलाम जिन्होंने पिताओं
की जगह लेकर माताओं के आँसू गिनाये।
यही सत्ता का सही रूप है, तुम एक को शत्रु
मान, किसी तस्वीर पर गोलियों की बौछार
कर रहे हो
और तुम्हारे साथ बैठी, तुम्हारा जूठा सिगरेट
पी रही तुम्हारी पत्नी रामराज्य की चेष्टा कर
रही है।
आजीवन इस शहर को अपनी बर्बादी का
कारण मानते हुए भी तुमने इसे अपना घर
बना लिया
और हजारों सालों से सड़ रहे बीजों को आगे
के हजारों सालों के लिए अपने देहों का
आसरा दिया।
सभ्यता के इस अन्तहीन मरुभूमि पर मुझ जैसे
पागलों से अपने बच्चों को मुखातिब होने से
रोका।
और जब
बार-बार
लगातार
सालों-साल
फासीवादी सरकारों ने तुम्हारी जीभ पर रखा
निवाला भी हड़प लिया
तुमने अपने या किसी और के पड़ोसी पर
उँगली तान दी।

भटकते हुए मैंने सीखा है कि एक दिन वो
उँगली तुम पर भी तानी जाएगी।
तुम्हारी दलीलों को सुनकर
कोई पागल तुम पर हँसेगा,
और दो टूक कह देगा–
'मूत्र किसी भी पशु का पी लेने से बीमारियाँ
अक्सर बढ़ ही जाती हैं,
उनका निवारण नहीं होता।
किसी भी हाल में वक्त हर रोज तुम्हारी
जिन्दगी से एक दिन चुरा ले जाता है।
ऐसे में कितना सरल है हर किसी को असुन्दर
लेकिन आसरा मुहैया करा देना,
साधारण लेकिन पेट भरने योग्य
भोजन करा देना।
कितना सरल है उनके हिसाब से
उन्हें काम करने देना,
जब वे किसी से प्रेम करें, उसमें हस्तक्षेप
नहीं करना।
लेकिन मूत का स्वाद और फासीवाद इस मुँह
से उतारे नहीं उतरता।'

खुशकिस्मत तो हूँ

आँचल की सिलवटों में खोया हुआ
तुम्हारे केश का रेशा,
कन्धे पर जब तुम सर रखकर रो न पायी,
कमीज पर उसकी छाप,
नाखून पर कभी महसूस जो हो न पाया
तुम्हारे ओठ का स्पर्श
ऐसी सभी हसरतों में पूरा होना,
न हो पाने की किस्मत के आगे,
हर विचार में तुम तक पहुँचने की हैसियत रखना
खुशकिस्मत तो हूँ मैं मोहतरमा
हमेशा अपने बाप से ऊपर रखा है मुझे तुमने

परवरिश में मिली पितृसत्तात्मक धारणाओं के
खिलाफ अपनी लड़ाई में शामिल किया है मुझे
जब कभी जीवन का बोझ तोड़ने लगा तुमने
मुझे ही याद किया
जब कभी वक्त मेरे हिस्से की चुप्पी लाया,
अनायास इधर-उधर की बातों से
वो दिन भी काट दिया
खुशकिस्मत तो हूँ मैं मोहतरमा
इजहार-भर की बिसात में भी
ऐसी तवज्जो है मेरी

लिखता कोई क्यों है?

जब आस-पास आँसू पोंछने के लिए भी
कोई न हो, क्या कविता
मेरे,
तुम्हारे,
इस संसार के
सभी पीड़ितों के आँसू पोंछने की
ताकत रखती है?
फिर लिखता कोई क्यों है?
मुझे भय उन लोगों से है, जो चन्द पैसों की
आड़ में गुलामी करते हुए खुश रहना
चाह रहे हैं,
हर सम्भव जद्दोजहद कर रहे हैं,

उन लोगों से भी जो गुलामी की
हर सीख को सीढ़ी मानकर,
हर पायदान पर अपने होने का रोना रोते हुए,
रुलाने की कसमें खाते हैं,

उनसे भी जो गुलामी को गुलामी नहीं कहते
और सुख को सभ्यता और परम्परा के
उन्माद में ही प्राप्त करने की क्षमता सीखते हैं।
निश्चित है मैं ऐसे लोगों के साथ
नहीं जी सकता।

जिस किसी के साथ जी सकता हूँ,
उन्हें तोड़ दिया गया है,
उन पर नाहक बीमार होने का आरोप है।

इनकी हँसी मुझे एक और दिन जी लेने की
हिम्मत देती है,
मुझे कविता लिखने पर मजबूर करती है–
मैं नहीं लिख सकता उन गुलामों को
सुनाने के लिए कविता,
जिनकी बू से ही अपना गला रेत लेने का
मन कर जाता है।

उनका जिक्र अपनी कविताओं में
जरूर करता हूँ,
ताकि दौड़ में हिस्सेदार अपनी बेवकूफियों पर
हँस लेने के बाद दो क्षण मौन हो जाएँ,

और मेरे अपनों को वही दो वक्त सही
राहत की साँस नसीब हो जाये।

■

विशेष लेख

संरचनात्मक जटिलताओं में स्त्री प्रश्न

सुप्रिया पाठक

भारतीय सन्दर्भ में रेणु अदलखा का मानना है कि विकलांग व्यक्तियों द्वारा रोजमर्रे की जिन्दगी में सामना की जाने वाली बाधाओं का प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है जब बात विकलांग स्त्रियों की होती है। विकलांग स्त्रियों के प्रति यौन-हिंसा की घटनाएँ अधिक होती हैं। उनमें प्रजनन अधिकारों तक पहुँचने में बाधाओं का सामना करने की सम्भावना अधिक होती है और वे लगातार शिक्षा, रोजगार और सार्वजनिक सेवाओं तक पहुँच की कमी का सामना करती हैं। विकलांग स्त्रियों को परिवार में भी हाशिये पर रखा जाता है।

लेखिका महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के स्त्री अध्ययन विभाग में सह-आचार्य हैं।

+91 9850200918

womenstudieswardha@gmail.com

अँग्रेजी के शब्द 'इण्टरसेक्शनालिटी' जिसे हिन्दी में अन्तरक्षेत्रीयता या अन्तर्विभाजकता कहा जाता है, का प्रयोग पहली बार नागरिक अधिकारों के अधिवक्ता एवं विद्वान किम्बर्ले क्रेनशॉ ने 1989 में किया था। आलोचनात्मक नस्लीय सिद्धान्त में रुचि रखने वाले कानून के विशेषज्ञ क्रेनशॉ ने लैंगिक एवं नस्लीय मुद्दों पर केन्द्रित मामलों में कानून के रवैये को प्रश्नांकित करना शुरू किया। उनका मानना था कि न्यायालयों की यह वैचारिक सीमा थी कि वे जीवन के इस यथार्थ को नजरअन्दाज कर रहे थे कि अश्वेत स्त्रियाँ अश्वेत और स्त्री दोनों हैं इसलिए वे नस्लीय और लैंगिक दोनों आधारों पर भेदभाव की शिकार हैं। इस बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए क्रेनशॉ ने 1976 के डेग्राफेनरीड बनाम जनरल मोटर्स के मामले को उदाहरण के रूप में पेश किया। यह मामला जनरल मोटर्स पर मुकदमा करने वाली पाँच अश्वेत स्त्रियों के इर्द-गिर्द केन्द्रित था। उनकी नीति के अनुसार, अश्वेत स्त्रियों को भेदभावपूर्ण तरीके से प्रताड़ित किया जा रहा था। स्त्रियों ने यह तर्क दिया कि उन्हें अश्वेत और स्त्री दोनों होने के कारण दोहरे भेदभाव का सामना करना पड़ रहा था, लेकिन कानूनी व्यवस्था इस तर्क को मान्यता देने के लिए तैयार नहीं थी। क्रेनशॉ का यह मानना था कि इण्टरसेक्शनालिटी की समझ से न्यायालयों को समानतापूर्ण एवं पारदर्शी ढंग से कार्य करने की सम्भावना पैदा हो रही थी परन्तु उनके इस मत की अदालतों द्वारा लगातार अनदेखी की जा रही थी।

1980 और 1990 के दशक की शुरुआत में संयुक्त राज्य अमेरिका में अश्वेत स्त्रीवादी कार्यकर्ताओं द्वारा अश्वेत स्त्रीवाद की सैद्धान्तिक शुरुआत की गयी जिसकी जनक एलिस वाकर को माना जाता है। अश्वेत स्त्रीवाद राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य देशों में अश्वेत महिलाओं के उत्पीड़न के बहुआयामी पहलुओं पर केन्द्रित था। यह मुख्यधारा के स्त्रीवाद से इस मायने में भिन्न था कि इसने अश्वेत स्त्रियों के दैनिक जीवन को प्रभावित करने वाले अन्याय को भिन्न दृष्टि समझने का प्रयास किया। यह इण्टरसेक्शनालिटी यानी, संस्थागत नस्लवाद, वर्गवाद और लिंगवाद सहित भेदभाव के कई रूपों पर एक साथ विचार कर रहा था। संयुक्त राज्य अमेरिका के बाहर, अश्वेत स्त्रीवाद को अक्सर अफ्रो-स्त्रीवाद कहा जाता है। हालाँकि, संयुक्त राज्य अमेरिका में अश्वेत स्त्रीवाद की जड़ें 19वीं सदी के मध्य में खोजी जा सकती हैं, लेकिन अश्वेत स्त्रीवादी आन्दोलन को 1970 के दशक तक प्रमुखता नहीं मिली। 1960 और 70 के दशक के दौरान, मुख्यधारा के स्त्रीवाद की दूसरी लहर की अवधि के दौरान, अश्वेत महिलाओं को महिला अधिकार संगठनों के भीतर नेतृत्व के पदों से बड़े पैमाने पर बाहर रखा गया था परन्तु उनकी चिन्ताओं को हाशिये पर। वैश्विक स्तर पर उभरे तृतीय लहर के

स्त्रीवाद ने इण्टरसेक्शनालिटी के मुद्दे को स्थानीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में प्रमुखता से उभारा। तृतीय लहर के स्त्रीवाद की विभिन्न परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ हैं परन्तु सम्भवतः इसकी उपयुक्त व्याख्या यह की जा सकती है कि यह तीसरी पीढ़ी की स्त्रियों के दौर का स्त्रीवाद है जिसने द्वितीय लहर के स्त्रीवाद की वैचारिक विरासत को स्वीकार करने के साथ-साथ इसकी सीमाओं को भी चिह्नित किया। उनकी इस तर्क के साथ गहरी सहमति थी कि द्वितीय लहर का स्त्रीवाद श्वेत, मध्यवर्गीय, सर्वण स्त्रियों तक केन्द्रित होने का कारण अपने चरित्र में ही निर्देशात्मक आन्दोलन था जिसने साधारण स्त्री और उसके मुद्दों को नजरअन्दाज किया। तृतीय लहर की स्त्रीवादियों के अनुसार, जिस ऐतिहासिक तथा राजनीतिक सन्दर्भ में द्वितीय लहर के स्त्रीवाद का उदय हुआ था वे समस्त परिस्थितियाँ अब बदल चुकी थीं इसलिए वर्तमान स्त्री के जीवनानुभवों में उसकी झंकार सुनाई नहीं देती। इस लहर की स्त्रीवादियों में अधिकांश वे स्त्रियाँ हैं जिनकी माँएँ द्वितीय लहर का हिस्सा थीं या जो विभिन्न उच्च शिक्षा संस्थानों में 'स्त्री अध्ययन' जैसे विषयों में अध्ययन-अध्यापन कर रही हैं। इन नारीवादियों ने उत्तर-संरचनावादी तथा उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धान्तों को भी चुनौती दी है। साथ ही, इण्टरसेक्शनालिटी को स्त्री-शोषण के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में चिह्नित करने का प्रयास भी किया है।

सामान्यतः तीसरी लहर के बारे में यह धारणा है कि इसका उदय कादमिक हलकों में हुआ। वैश्विक हलकों में अस्सी और नब्बे के दशक में महत्त्वपूर्ण परिघटना के रूप में उभरे दलित एवं अश्वेत स्त्रीवाद के वैचारिक हस्तक्षेप को स्त्रीवाद की तीसरी लहर के दायरे में रखकर देखा जाता है जिसने तीसरी दुनिया में स्त्री-विषयक मुद्दों को 'सार्वभौमिक भगिनीवाद' (यूनिवर्सल सिस्टरहुड) के दावे से अलग हटकर उसे नस्लीय एवं जातीय सन्दर्भों में देखे जाने की पैरवी की। इसके साथ कई तरह के स्त्रीवादी और सबाल्टर्न सिद्धान्तों-अवधारणाओं एवं आन्दोलनकारी गतिविधियों का जुड़ाव रहा है। 2006 में प्रकाशित अपनी कृति राइटिंग कास्ट/राइटिंग जेण्डरः नैरेटिंग दलित वुमेन टेस्टीमोनियल में प्रसिद्ध समाजशास्त्री एवं दलित स्त्रीवाद की प्रथम सिद्धान्तकार मानी जाने वाली शर्मिला रेगे ने इस पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है। परम्परावादी आलोचक रेने डेनफील्ड के अनुसार, तृतीय लहर की संकल्पना एलिस वाकर की पुत्री रेबेका वाकर तथा सेनॉन लीज ने 1990 के शुरुआती दशकों में की।

अधिकांश तृतीय लहर की स्त्रीवादियों ने अपने दृष्टिकोण को 'उत्तर-स्त्रीवाद' से अलग करके रखा। जैसा कि लेसली हेवुड तथा जेनिफर ड्रेक ने यह कहा कि 'उत्तर-स्त्रीवाद' दरअसल कुछ खास नवजवान परम्परावादी स्त्रीवादियों का समूह है जिन्होंने स्पष्ट रूप से स्वयं को परिभाषित करते हुए द्वितीय लहर की स्त्रीवादियों की कटु आलोचना की। इसकी विपरीत तृतीय लहर के स्त्रीवादियों ने सचेत रूप से द्वितीय लहर के इतिहास को सँजोते हुए अपने कार्यों तथा सिद्धान्तों को इसी शृंखला की कड़ी के रूप में वर्णित किया। इस लहर ने केटी रोफे द्वारा लिखित पुस्तक 'द मॉर्निंग आफ्टर' की उन प्रस्थापनों को परम्परावादी कहकर अस्वीकार कर दिया जिसमें उन्होंने उन स्त्रीवादी बुद्धिजीवियों की आलोचना की थी जो संयुक्त राज्य अमेरिका में यौन-हिंसा तथा बलात्कार के आँकड़ों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश कर रही थीं जिसके कारण इस देश में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध प्रभावित हो रहे थे। नाउमी वुल्फ को उनकी कृति 'फायर विथ फायर'(1993) के लिए लोगों की मिश्रित प्रतिक्रिया मिली। हालाँकि उन्हें तृतीय लहर की विदुषियों में प्रतिष्ठा मिली। विशेष तौर पर उन्होंने उस 'पीड़ित-स्त्रीवाद' को खारिज किया जहाँ स्त्रियों को द्वितीय दौर के सिद्धान्तों में हिंसा की निष्क्रिय भुक्तभोगी के रूप में प्रस्तुत किया गया। वुल्फ का सम्पूर्ण सैद्धान्तिकीकरण इस तथ्य पर आधारित था कि अब पुराने फ्रेम को तोड़कर प्रतिरोध की नयी संस्कृति को गढ़ने की आवश्यकता है इसलिए अब पुत्री के लिए यह आवश्यक है कि अपनी स्त्रीवादी माँ की शोषण की संकल्पनाओं से इतर जाकर अपने एजेण्डे को वह स्वयं परिभाषित करे तथा समाज की अन्य शोषणकारी संरचनाओं के साथ उसके सम्बन्धों की तलाश करे। तीसरे लहर के प्रेरणातत्त्व बहुभाषिक संस्कृतियों में प्रतिबिम्बित होते हैं।

इन सांस्कृतिक हस्तक्षेपों के अतिरिक्त तीसरे लहर के समर्थकों को अपने वैश्विक दृष्टिकोण तथा उसके प्रति प्रतिबद्धता पर गर्व है जिसमें उन्होंने द्वितीय लहर के कुछ अति महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अपनाते हुए सामान्य लोगों के जीवन तथा उनकी वास्तविक परिस्थितियों को समझने का प्रयास किया। पुरुष तथा विषमलैंगिकता की आलोचना तीसरे लहर के स्त्रीवाद में उतने महत्त्वपूर्ण मुद्दे नहीं थे। निश्चित रूप से तीसरे लहर का स्त्रीवाद अपनी भ्रूणावस्था में था जिसे अकादमिक सैद्धान्तिकीकरण के जरिये धीरे-धीरे अपना दर्शन गढ़ना था। इस लहर के हृदय में पीढ़ीगत संघर्ष का भाव था जिसमें एक पीढ़ी अपने स्थान (स्पेस) का दावा कर रही थी और आन्दोलन को अपनी नजर से व्याख्यायित करते हुए उसे अपना वैचारिक जामा पहना रही थी। तृतीय लहर में 'अस्मिता का विमर्श' केन्द्र में था।

वैश्विक स्तर पर उभरे अश्वेत स्त्रीवाद का केन्द्रीय तर्क था कि वर्गीय, नस्लीय तथा लैंगिक शोषण अन्तरसम्बन्धित है। नारीवाद की प्रचलित धाराएँ लैंगिक शोषण पर बात करते हुए नस्लीय वर्गीय शोषण को लगातार नजरअन्दाज करती हैं। 1974 में कॉमबाही रिवर कलेक्टिव ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि अश्वेत स्त्री की मुक्ति के पश्चात ही सम्पूर्ण मानव समाज की मुक्ति सम्भव है। लिंग, वर्ग तथा नस्ल आधारित शोषण को सम्यक रूप से समझे तथा उनके विरुद्ध एकजुट हुए बिना स्त्री-मुक्ति सम्भव नहीं। अश्वेत आन्दोलन की आधारभूमि को तैयार करने में एलिस वॉकर के वुमेनिस्म के सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण योगदान है। एलिस वाकर तथा अन्य वुमेनिस्ट विदुषियों ने इस बात पर जोर दिया किया कि अश्वेत स्त्री के जीवनानुभव श्वेत, मध्यवर्गीय स्त्रियों की अपेक्षा न सिर्फ भिन्न हैं बल्कि उसके शोषण की परिस्थितियाँ भी अधिक जटिल हैं। अश्वेत स्त्री-आन्दोलन के उदय का कारण भी इसी तार्किक पहलू पर आधारित है कि श्वेत मध्यमवर्गीय, पढ़ी-लिखी स्त्रियों ने नारीवाद की जिस धारा का नेतृत्व किया उसने वर्ग

तथा नस्ल पर आधारित शोषण को तवज्जो नहीं दिया। पेट्रिशिय हिल कॉलिन्स ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'फेमिनिस्ट थॉट' (1991) में अश्वेत नारीवाद को परिभाषित करते हुए कहा कि इस नारीवाद को सैद्धान्तिकी देती हुई विदुषियों ने साधारण अश्वेत स्त्री के अनुभवों तथा उसके विचारों को शामिल करते हुए एक अलग किस्म को दृष्टि अपने, समुदाय तथा समाज के प्रति प्रदान की। अश्वेत नारीवाद का महत्त्वपूर्ण वैचारिक सम्बन्ध उत्तर औपनिवेशिक स्त्रीवादियों के साथ तथा तीसरी दुनिया के नारीवाद (दलित नारीवाद) के साथ भी बन रहा था। दोनों ही स्त्रीवादी धाराएँ अपनी स्वीकार्यता के लिए न सिर्फ इस पुरुष प्रधान संस्कृति में बल्कि पाश्चात्य स्त्रीवादी खेमों में भी संघर्षरत थी।

अश्वेत स्त्रीवादियों द्वारा दर्ज किया गया प्रतिरोध वस्तुतः दो दृष्टिकोणों का परिणाम है। पहला दृष्टिकोण यह मानता है कि दरअसल शोषित समूह स्वयं को शक्तिशाली समूहों के साथ जोड़कर देखता है जिसके कारण उनके स्वयं के शोषण की कोई वैध व्याख्या उनके पास नहीं होती। दूसरा दृष्टिकोण यह मानता है कि शोषित समूह अपने शोषकों की अपेक्षा इंसानों की श्रेणी में नहीं आते इसलिए उनमें अपना दृष्टिकोण रखने की भी क्षमता नहीं होती है। दोनों ही दृष्टिकोण यह मानते हैं कि शोषित समूह द्वारा अपनी चेतना की अभिव्यक्ति को वर्चस्वशाली समूहों द्वारा स्वीकार्यता न मिलना उभरते हुए विचारों की प्रतिबद्धता को और सुदृढ़ करता है। खासतौर पर दोनों ही दृष्टिकोण यह मानते हैं कि शोषित समूहों में राजनीतिक कार्यक्षमता इसलिए मजबूती से नहीं उभर पाती क्योंकि उनमें अपनी शोषित स्थिति के प्रति चेतना का घोर अभाव होता है। पीटर बर्जर तथा थॉमस लॉकमॅन ने अश्वेत स्त्री के दृष्टिकोण तथा अश्वेत स्त्रीवादी सिद्धान्त के मध्य सम्बन्ध बताने का प्रयास किया है। अश्वेत स्त्रीवादी सिद्धान्त एक विस्तार के रूप में दूसरे स्तर के ज्ञान की बात करता है जबकि अश्वेत स्त्री का दृष्टिकोण प्रत्येक दिन के जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति है जो उस सैद्धान्तिकीकरण की आधारभूमि तैयार करता है लेकिन, ये दोनों ही स्तर अन्तःसम्बन्धित हैं।

अपनी ज्ञान-परम्परा को वैधता दिलाने तथा उसे स्थापित करने के क्रम में अश्वेत स्त्रीवादी सिद्धान्त को तीन स्तर पर चुनौतियों का सामना करना है। पहला साधारण अश्वेत स्त्रियों के बीच अपने सिद्धान्तों के प्रति विश्वास पैदा करना। दूसरा अश्वेत विदुषी स्त्रियाँ जो सामान्यतः स्त्रीवादी नहीं हैं, उनके बीच अपनी स्वीकार्यता हासिल करना तथा तीसरा अकादमिक जगत में यूरोकेन्द्रित पुरुषवादी राजनीतिक तथा ज्ञान मीमांसात्मक मुठभेड़ का सामना करना। अश्वेत स्त्रीवादी सिद्धान्त इस महत्त्वपूर्ण सम्भावना को पैदा करता है कि अश्वेत स्त्रियाँ अपने विशेष ज्ञान का उत्पादन कर सकती हैं। इस प्रकार का भिन्न दृष्टिकोण अफ्रीकी, अमेरिकी अश्वेत स्त्रियों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करता है कि वे अपने ज्ञान को महत्त्व देते हुए प्रचलित स्त्रीवादी धाराओं में स्थान एवं स्वीकार्यता के लिए आवाज बुलन्द करें। अश्वेत स्त्री के सांस्कृतिक तथा पारम्परिक विचारों को उठाते हुए अश्वेत स्त्रीवादी सिद्धान्त उनमें नये अर्थ भरता है तथा उसके प्रति चेतना जागृति का कार्य करता है। खासतौर पर इस प्रकार की व्याख्याएँ अश्वेत अफ्रीकी तथा अमेरिकी स्त्रियों को प्रतिरोध का एक नया तरीका सिखाती है जिसके सहारे वे सभी प्रकार के वर्चस्वों के विरुद्ध संघर्ष कर सकें। अश्वेत नारीवाद को 'असहमति के विमर्श' तथा 'भिन्न स्वर' के रूप में तरजीह दिये जाने के साथ-साथ स्त्रीवादी विमर्श में आलोचना का सामना भी करना पड़ रहा है। आलोचकों का कहना है कि अश्वेत स्त्री द्वारा स्वयं को सिर्फ अश्वेत समूह के रूप में देखने की प्रवृत्ति के कारण यह नस्लीय पूर्वाग्रहों में फँस गया है जिसके कारण इसके तार्किक आयाम कमजोर हुए हैं। नस्लीय भेदभाव के विरोधियों का मानना है कि अश्वेत स्त्री सिर्फ अश्वेत होने के कारण शोषित नहीं है बल्कि स्त्री होने के साथ-साथ वह अश्वेत भी है, यह उसके दोहरे उत्पीड़न का प्रमुख कारण है। अश्वेत नारीवाद खुद को एकमात्र अश्वेत स्त्रियों का हित-चिन्तक करार देता है, उसका यह दावा महिला आन्दोलन के साथ उसके अटूट रिश्ते को कमजोर करता है। अश्वेत स्त्री द्वारा अपना सारा ध्यान नस्ल के सवालों पर केन्द्रित करने के कारण यह अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक,राजनीतिक एवं आर्थिक पहलुओं की अनदेखी करता है। भारत में दलित नारीवाद की पैरोकार शर्मिला रेगे ने दलित नारीवाद को सैद्धान्तिक तौर पर तर्कसंगत बताते हुए समकालीन नारीवादी विश्लेषण में महत्त्वपूर्ण श्रेणी के रूप में 'भिन्नता के स्वर (डिफरेंट वॉयस वॉइसेस)' को केन्द्रीय विमर्श के रूप में स्थापित किया। साथ ही, उन्होंने भिन्नता के इस स्वर एवं दलित स्त्रियों के संघर्षों को हाशिये पर कर दिये जाने की पितृसत्तात्मक प्रवृत्ति की ऐतिहासिक जड़ों को 18वीं-19वीं सदी में उभरे समाज-सुधार आन्दोलनों, सत्यशोधक तथा अम्बेडकरी आन्दोलनों तथा पार्थ चटर्जी के विभिन्न राष्ट्रवादी धाराओं द्वारा स्त्री-प्रश्नों को हल किये जाने के सन्दर्भ में लिखे गये लेख इत्यादि में भी तलाशा। शर्मिला ने 1970 के दशक में उभरे नव सामाजिक आन्दोलनों के दौरान भी दलित एवं महिला आन्दोलनों में दलित महिलाओं के मुद्दों को नजरन्दाज किये जाने की तथ्यात्मक पुष्टि की है। दलित नारीवादी स्टैण्ड प्वॉइण्ट सिद्धान्त का मानना है कि दलित महिलाओं के सवाल सिर्फ विसम्मति का विमर्श नहीं है। यह प्रपंच उनकी व्यापक राजनीति को संकीर्ण करने का छद्म रचता है, जबकि जाति तथा जेण्डर के प्रश्न अनिवार्यतः अन्तःसम्बन्धित एवं व्यापक हैं जिसके ताने-बाने को समझे बिना भारत में नारीवादी विमर्श पितृसता की जटिलताओं को समझ पाने में अन्ततः विफल होगा।

शर्मिला रेगे का तर्क है कि भारत में मुख्यधारा के स्त्रीवादी आन्दोलन अक्सर इस बात को नजरअन्दाज करते हैं कि जाति और लिंग दोनों किस तरह से 'स्त्री' को 'श्रेणीबद्ध पितृसत्ता' में एक श्रेणी के रूप में संचालित करते हैं। इस बात की अनदेखी करना कि जाति संरचनात्मक रूप से दलित स्त्रियों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने के लिए कैसे काम करती है, दलित-स्त्रीवादियों को स्त्रीवाद या सामुदायिक सम्बन्धों के बीच चयन करने की स्थिति में छोड़ देती है। उल्लेखनीय रूप से, उनका तर्क है कि या तो पितृसत्ता सभी स्त्रियों को कैसे प्रभावित करती है, इसकी 'समानता' या जाति के 'अन्तर' पर जोर देना अक्सर उस तरीके को अस्पष्ट कर देता है जिससे समाज

में जाति-आधारित यौन-हिंसा को सामान्य माना जाता है। रेगे ने सही तर्क दिया है कि समय की माँग है कि जाति और लिंग आधारित भेदभाव के बीच मिलीभगत से निपटा जाये। एक अन्तःसम्बन्धी चर्चा के अभाव में, खैरलांजी हिंसा जैसी घटनाओं को या तो यौन-उत्पीड़न या जातिगत अत्याचार के रूप में पेश किया जाता है, जबकि इस वास्तविकता को नजरअन्दाज कर दिया जाता है कि लिंग और जाति के आधार पर बलात्कार का अनुभव अविभाज्य और जटिल दोनों है। ट्रांसजेण्डर पहचान के सन्दर्भ में, ट्रांस और इण्टरसेक्स समुदाय के सामने आने वाली भेद्यता और भेदभाव बहुत अलग है। दलित ट्रांसजेण्डर व्यक्तियों को उनकी जाति और लिंग पहचान के आधार पर जटिल भेदभाव का सामना करना पड़ता है। सेमलार इस तथ्य को रेखांकित कराते हैं कि दलित और ट्रांसजेण्डर समुदायों के बीच एकजुटता की कमी है। ट्रांसजेण्डर व्यक्ति अक्सर सार्वजनिक हिंसा से बचने के लिए संघर्ष करते पाये जाते हैं। दलित ट्रांसजेण्डर व्यक्तियों को उच्च जाति के ट्रांसजेण्डर व्यक्तियों से उनकी जाति-स्थिति के कारण और दलित समुदाय से उनकी लिंग पहचान के कारण भेदभाव का सामना करना पड़ता है। स्माइल विद्या का तर्क है कि ट्रांसफोबिया संरचनात्मक रूप से जाति पदानुक्रम के काम करने के तरीके के समान है। वे उनके साथ ठीक उसी तरह भेदभाव करते हैं, जैसे उच्च जाति के हिन्दू दलितों पर अत्याचार करते हैं। विडम्बना यह है कि मुख्यधारा के जेण्डर स्त्रीवादी उन्हें इसलिए बहिष्कृत करते हैं क्योंकि वह जैविक रूप से स्त्री नहीं हैं। उनका तर्क है कि दलित ट्रांसजेण्डर स्त्रियों को उन तरीकों से लड़ने की जरूरत है जिनसे ट्रांसफोबिया, पितृसत्ता और जातिवाद उनके जीवन विकल्पों और अवसरों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करते हैं।

इसी प्रकार विकलांगता के स्त्रीवादी सिद्धान्तकारों ने यह तर्क दिया है कि नारीत्व और विकलांगता एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं क्योंकि दोनों सामाजिक रूप से निर्मित हैं। उन विद्वानों द्वारा किये गये हस्तक्षेपों से पता चलता है कि मुख्यधारा की विकलांगता के बौद्धिक विमर्श ने विकलांग स्त्रियों की लिंग आधारित अपेक्षाओं और अनुभवों की उपेक्षा की है। भारतीय सन्दर्भ में रेणु अदलखा का मानना है कि विकलांग व्यक्तियों द्वारा रोजमर्रे की जिन्दगी में सामना की जाने वाली बाधाओं का प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है जब बात विकलांग स्त्रियों की होती है। विकलांग स्त्रियाँ के प्रति यौन-हिंसा की घटनाएँ अधिक होती हैं। उनमें प्रजनन अधिकारों तक पहुँचने में बाधाओं का सामना करने की सम्भावना अधिक होती है और वे लगातार शिक्षा, रोजगार और सार्वजनिक सेवाओं तक पहुँच की कमी का सामना करती हैं। विकलांग स्त्रियों को परिवार में भी हाशिये पर रखा जाता है, जहाँ देखभाल करने वाली स्त्री की भूमिका और देखभाल प्राप्त करने वाली विकलांग स्त्री की स्थिति में बहुत अन्तर पाया जाता है। हमारे समाज में विकलांग बेटों के विवाह की सम्भावना अधिक रहती है क्योंकि वे उपहार देने वाले नहीं, बल्कि उपहार प्राप्त करने वाली श्रेणी में होते हैं। कई इलाकों में यह भी देखने में आया कि पारिवारिक एवं सामाजिक बन्दिशों के कारण स्त्रियाँ मानसिक बीमारियों का शिकार हुईं परन्तु लोक-लाज एवं परम्परा के नाम पर उनका विवाह धोखे से या जबरन कराया गया जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि वर पक्ष द्वारा या तो वे पूरी जिन्दगी मायके में छोड़ दी गयीं या उन स्त्रियों के साथ जानवरों की तरह व्यवहार किया गया। कई बार इन स्त्रियों ने अपनी जीवन परिस्थितियों से तंग आकर आत्महत्या तक कर ली। बाद में, वर एवं वधू पक्ष द्वारा पुलिस के साथ मिलकर कोर्ट के बाहर ही समझौता कर इस प्रकरण को रफा-दफा कर दिया गया। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त विचारणीय पहलू है कि क्या वास्तव में इन स्त्रियों ने 'आत्महत्या' की थी या पितृसत्तात्मक समाज उनकी 'हत्या' के लिए जिम्मेदार था?

यह भी दुर्भाग्यपूर्ण है कि विकलांग और गैर-विकलांग पुरुष दोनों ही सामान्य स्त्रियों को पत्नी के रूप में चाहते हैं। किसी विकलांग स्त्री से विवाह करना उन्हें स्वीकार नहीं क्योंकि आमतौर पर उन्हें यौनिक रूप से अक्षम और बच्चों को जन्म न दे पाने वाली व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। भारत में गरीबी, साक्षरता की कम दर, रोजगार तक पहुँच की कमी और अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति समुदायों द्वारा सामना किये जाने वाले भेदभाव विकलांग स्त्रियों के लिए और भी गम्भीर हैं। विकलांग स्त्रियों को सामाजिक उपेक्षा और वंचना का सामना करना पड़ता है क्योंकि यह माना जाता है कि वे सामाजिक विकास में योगदान देने में सक्षम नहीं हैं। विशेष रूप से, विकलांग दलित स्त्रियों के लिए उचित आवास की कमी, गरीबी और व्यावसायिक अस्थिरता की स्थायी समस्या है। इस सम्बन्ध में, निलिका मेहरोत्रा का शोध यह दर्शाता है कि दलित समुदायों की विकलांग स्त्रियाँ न केवल अपनी जाति बल्कि लिंग और विकलांगता की स्थिति के कारण भी कई तरह से हाशिये पर हैं। अधिकांश विकलांग दलित स्त्रियाँ असंगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं। मानसिक विकलांगता वाली स्त्रियों को स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँचने में कठिनाई होती है जिसके कारण उनके अलग-थलग रहने की सम्भावना अधिक रहती है और वे यौन-हिंसा की भी शिकार होती हैं। हाशिये के लोगों के अधिकारों के लिए जाति, विकलांगता और लिंग के प्रश्न को एक साथ इण्टर सेक्शनालिटी के विमर्श के साथ जोड़कर देखने की आवश्यकता है। ■

हमारे समाज में विकलांग बेटों के विवाह की सम्भावना अधिक रहती है क्योंकि वे उपहार देने वाले नहीं, बल्कि उपहार प्राप्त करने वाली श्रेणी में होते हैं। कई इलाकों में यह भी देखने में आया कि पारिवारिक एवं सामाजिक बन्दिशों के कारण स्त्रियाँ मानसिक बीमारियों का शिकार हुईं परन्तु लोक-लाज एवं परम्परा के नाम पर उनका विवाह धोखे से या जबरन कराया गया जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि वर पक्ष द्वारा या तो वे पूरी जिन्दगी मायके में छोड़ दी गयीं या उन स्त्रियों के साथ जानवरों की तरह व्यवहार किया गया। कई बार इन स्त्रियों ने अपनी जीवन-परिस्थितियों से तंग आकर आत्महत्या तक कर ली।

समसामयिक राजनीति और नदियों के सवाल

बिहार

राहुल यादुका

जनता और सरकार के बीच बहुत बड़ा शक्ति असन्तुलन होता है। सूचना का अभाव भी बड़ी समस्या है। लिहाजा, यह महसूस होता है कि वर्तमान चुनावी लोकतन्त्र में उपलब्ध विकल्पों में नदियों के साथ नये सामंजस्य का रास्ता नजर नहीं आता। भले ही विपक्ष में रहने वाले दल मौजूदा सरकार में रहने वाली पार्टियों को घेरते हैं, लेकिन उनके घोषणा-पत्रों में या तो पर्यावरण के मुद्दे शामिल ही नहीं होते या उनके वायदे भी उसी परिपाटी को मजबूत करते हैं जिसने नदियों की दुर्दशा की है।

बिहार के मानचित्र को एक सरसरी निगाह-भर से देखा जाये तो ये समझ में आ जाएगा कि पूरे उत्तर बिहार [गंगा के उत्तर का हिस्सा] को अनेकानेक नदियाँ पाटती हैं। इनमें से अधिकांश नदियाँ हिमालयी नदियाँ हैं जो मॉनसून में बाढ़ लाती हैं। कहीं-न-कहीं इन सब नदियों का पानी गंगा में समाहित हो जाता है, जो आगे चलकर बंगाल से होते हुए बंगाल की खाड़ी में मिल जाता है। जाहिर है कि इन नदियों के साथ आये बालू और मिट्टी से भूमि का निर्माण हुआ है। इतना ही नहीं, ये नदियाँ उत्तर बिहार के समाज, संस्कृति, परिवहन और अर्थव्यवस्था की संचालिका भी रही हैं। 'पोलिटिकल इकालजी' के व्यवस्थित होते अनुशासन ने प्रकृति और संस्कृति के बीच की कृत्रिम खाई को रेखांकित किया है और उसे पाटने के उपक्रम भी सुझाये हैं। उदाहरण के लिए, अगर कोशी नदी पर बने तटबन्धों के भीतर बसे गाँवों के जनजीवन को देखा जाये तो ये सहज ही समझा जा सकेगा कि नदी किस तरह से लोगों के जीवन में केन्द्रीय भूमिका अदा करती है।

नदियों की शक्तिशाली भूमिका के आलोक में अगर आज बिहार में नदियों के साथ हो रहे मानवीय व्यवहार को देखा जाये तो लगेगा कि आज का 'तकनीकी मानव' नदी और प्रकृति की शक्तियों को या तो समझ नहीं रहा या उसका उपहास कर रहा है। नित नये बैराज, तटबन्ध, बाँध, नहर, नदी जोड़ परियोजना, पुल आदि की बात होती रहती है। उपलब्ध साहित्य से पता चलता है कि भारत में आधुनिक राज्य का आगमन उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ हुआ। पर्यावरण के इतिहासकारों का मत है कि यह (औपनिवेशिक राज्य का आगमन) एक ऐतिहासिक क्षण था जब प्रकृति और मानव के सम्बन्ध पुनरपरिभाषित हुए। प्रकृति के साथ सामंजस्य को एक पिछड़ी-पराजित मानसिकता मानकर इतिहास की अँधेरी कोठरी में बन्द कर दिया गया। आधुनिक विज्ञान के आगे सारी परम्परागत ज्ञान-परम्पराओं की हत्या के प्रयास हुए। जो छेड़छाड़ नदियों के साथ आजादी के समय शुरू हुए थे, समसामयिक व्यवहार भी मोटे तौर पर उसी लीक पर है। कालानुक्रम में तटबन्धों, बाँधों आदि की शोधपरक आलोचना के बावजूद राज्य और सरकारों का रवैया न के बराबर बदला है। बढ़ते अन्तरराष्ट्रीय दबाव और नीतियों में वैश्विक स्तर पर आयी एकरूपता की बातें दस्तावेजों तक सीमित हैं। रोजमर्रा की राजनीति और नीति-निर्माण में उनकी छाया भी नहीं दिखती।

जहाँ एक तरफ घिसा-पिटा राज्यतन्त्र है, वहीं दूसरी तरफ जनआन्दोलन और बुद्धिजीवी जो कुल मिलाकर 'बहरों की बहस' (डाइलॉग ऑफ द डेफ) में लगे हैं।

लेखक अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली में शोधार्थी हैं।
+91 88263 24382
rahulyaduka353@gmail.com

दोनों के बीच कोई सकारात्मक बातचीत नहीं होती दिखती। ऐसे में यह सवाल लाजिम है कि क्या परम्परागत चुनावी राजनीति में नदियों के सवालों का हल खोजा जा सकता है।

सितम्बर 2024 के अन्तिम दिनों में जब पटना में 'बिहार नदी संवाद' के बैनर तले बिहार कि दर्जनों नदियों पर काम कर रहे आन्दोलनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और शोधकर्ताओं का एक सम्मेलन चल रहा था, तभी यह खबर आ रही थी कि कोशी नदी में 7 लाख क्यूसेक के आस-पास पानी का बहाव हो सकता है (जो ऐतिहासिक था)। इसके बाद की बात अखबारों में है। अनेक नदियों पर बने तटबन्ध टूटे, न जाने कितने गाँव डूब या बह गये। मनुष्य, पशु, फसल, घर, सड़क बड़े पैमाने पर बाढ़ की भेंट चढ़ गये। इसमें कोई शक-सुबहा नहीं कि ये बाढ़ बड़ी बाढ़ थी। लिहाजा सरकार और समाज की प्रतिक्रिया भी गम्भीर थी। लेकिन जिम्मेदारी सिर्फ आपदा के बाद फैली समस्या को समेटने तक सीमित नहीं है। यह अपेक्षित था कि इस घटना के बाद एक नया सामाजिक विमर्श खड़ा होगा जिसमें इस घटना की परिपीठिका खोजी जाएगी। हमारे पास भारी-भरकम शोध प्रबन्ध हैं जो यह स्थापित करते हैं कि नदियों के साठ तकनीकी हस्तक्षेपों ने दुर्व्यवहार किया है जो पूँजी और राज्य की जरूरतों से संचालित थीं। आन्दोलन से लेकर अकादमिक हलकों में ये बात सर्वसम्मति से कही जाती है कि नदियों को अविरल बहने देने में ही भलाई है। लेकिन, यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस बड़ी बाढ़ के बाद भी कोई सार्थक बहस नहीं हुई। लिहाजा यह सवाल उठना लाजिम है कि क्या हमारी वर्तमान राजनीति में नदियों के पर्यावरण संगत व्यवहार की सम्भावना है!

अपने इस सवाल का जवाब ढूँढ़ने के लिए हम बिहार की वर्तमान राजनीति के खिलाड़ियों को ले सकते हैं। इसमें भारतीय जनता पार्टी, जनता दल यूनाइटेड, राष्ट्रीय जनता दल, कुछ निर्दलीय विधायक और नयी पार्टियाँ शामिल हैं। पिछले 70 सालों में इन सब लोगों की भागीदारी बिहार में सरकार बनाने में रही है। इसलिए नदियों के सवाल पर उनके बयान उनकी सोच का आईना है। 2024 की बाढ़ के बाद भाजपा के सम्राट चौधरी दिल्ली में केन्द्रीय मन्त्री से मिलकर कोशी में नया बैराज बनवाने की माँग कर रहे हैं। राजद के जगदानन्द सिंह कह रहे हैं कि नेपाल में हाई डैम बनने पर ही उत्तर बिहार को बाढ़ से स्थायी मुक्ति मिल सकती है। पूर्व जलसंसाधन मन्त्री और जेडीयू के नेता संजय झा ने पत्रकारों से बात करते हुए कहा कि 2024 की बाढ़ एक प्राकृतिक आपदा है। इतनी भारी बारिश जलवायु परिवर्तन का संकेत देती है इसलिए वह भी प्राकृतिक कारक है। दियारा में बसे लोग गलत जगह पर रहते हैं इसलिए दोष उनका है। स्थायी समाधान हाई डैम है। उधर अलग ताल ठोंक रहे प्रशान्त किशोर भी प्रकृति के प्रति नव उदारवादी दृष्टिकोण के पैरोकार लगते हैं। अपने एक इण्टरव्यू में उन्होंने कहा था, ''उत्तर बिहार की नदियाँ तो 'संसाधन' हैं जिसका 'उपयोग' पिछली सरकारों ने नहीं किया। हम आएँगे तो उनपर रिवर फ्रण्ट डेवलपमेण्ट प्रोजेक्ट बनेंगे जिससे अर्थव्यवस्था मजबूत होगी।'' सभी राजनीतिक दलों की बाढ़, नदी और डैम के बारे में एक राय खौफनाक है। ऐसे में कोई बेहतर दिनों की रोशनी नजर नहीं आती। कम-से-कम वर्तमान दलीय राजनीति में तो बाढ़ की समस्या के जनपक्षी और पर्यावरण-संगत समाधान का सूत्र नहीं मिलता।

अब यहाँ थोड़ी चर्चा नीति-निर्माण और नीति-परिवर्तन से जोड़कर करना श्रेयस्कर होगा। आदर्श स्थिति में जनता वोट के माध्यम से अपना मत पार्टियों के सामने रखती है और इसी हिसाब से सरकार चुनती है। कायदे से जनता की माँग को पूरा करके सरकार को अगली बार मतदान में जाना होता है। सरकार के काम के अनुसार जनता उसका फैसला करती है। लेकिन व्यवहार में इस आदर्श स्थिति से बहुत अधिक विचलन होता है। जनता और सरकार के बीच बहुत बड़ा शक्ति असन्तुलन होता है। सूचना का अभाव भी बड़ी समस्या है। लिहाजा, यह महसूस होता है कि वर्तमान चुनावी लोकतन्त्र में उपलब्ध विकल्पों में नदियों के साथ नये सामंजस्य का रास्ता नजर नहीं आता। भले ही विपक्ष में रहने वाले दल मौजूदा सरकार में रहने वाली पार्टियों को घेरते हैं, लेकिन उनके घोषणा-पत्रों में या तो पर्यावरण के मुद्दे शामिल ही नहीं होते या उनके वायदे भी उसी परिपाटी को मजबूत करते हैं जिसने नदियों की दुर्दशा की है। इसके अलावा, खासकर नदियों से जुड़े नीतियों के निर्माण में, तकनीकी विशेषज्ञों का नीति-निर्माण पर कब्जा हद से ज्यादा है जिससे चुने हुए प्रतिनिधि भी उसमें खास हस्तक्षेप नहीं कर पाते। ऐसे में यह सोचना जरूरी है कि आन्दोलनों और अकादमिक लोगों की रणनीति क्या हो! दरअसल बिहार में सरकारी योजनाओं के माध्यम से ठेकेदारों, नेताओं और अफसरों और अभियन्ताओं का एक गठजोड़ काम करता है जिसके हक में 'पोलिटिकल इकानमी ऑफ अर्थवर्क' (अरविन्द नारायण दास से उद्धृत) काम करता है। यह एक ऐसा माध्यम है जिससे सरकारी धन की बन्दरबाँट होती है। एक और पक्ष है जो अपेक्षाकृत अधिक चिन्ताजनक है। हाशिये पर खड़े समुदाय भी अब इस बात को स्वीकार करते नजर आते हैं कि नदियों पर आधारित जीवन और अर्थव्यवस्था अब एक दिवास्वप्न है। इसलिए वे भी एक भूमि-केन्द्रित विकास की अवधारणा में अपना हिस्सा चाहते हैं। समय-समय पर बाढ़ प्रभावित इलाकों से नये बाँध, तटबन्ध, पुल आदि की माँग आती रहती है। इस पूरे चक्र को देखकर लगता है कि अकादमिक समुदाय और आन्दोलन अलग-थलग पड़ रहे हैं।

आज मानव-समाज जलवायु परिवर्तन के मुहाने पर खड़ा है। इसका सबसे अधिक असर हिमालय में होगा और इसका प्रभाव निचले इलाकों में। एक तरफ इतनी बड़ी वैश्विक चिन्ता है और दूसरी तरफ समाज और सरकार की अर्धनिद्रा और उदासीनता। यह समय है कि समाज और राजनेता मिलकर हमारे सामने मुँह बाये संकट की गम्भीरता को समझें और पर्यावरण संगत राजनीति का व्याकरण तैयार करें। यह आगे का सवाल है कि इस राजनीति का व्याकरण कैसा होगा और हमारी राजनीतिक अर्थव्यवस्था किस रूप में खुद को पुनःपरिभाषित करेगी।

■

झारखण्ड

पेसा पर बहस के आयाम

विवेक आर्यन

झारखण्ड में पेसा कानून के प्रावधानों को लागू करने से सम्बन्धित प्रक्रियाएँ लगभग पूरी कर ली गयी हैं। राज्य सरकार के पंचायती राज विभाग ने नियमावली का एक मसौदा तैयार किया है, जिसे कैबिनेट के समक्ष पेश करने की योजना है। कैबिनेट की मुहर के बाद पेसा के प्रावधान झारखण्ड में प्रभावी हो जाएँगे। विभाग का दावा है कि पेसा नियमावली का यह मसौदा विभिन्न आदिवासी संगठनों, बुद्धिजीवियों और कानून के अन्य जानकारों के सुझाव तथा आपत्तियों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है।

राज्य में पेसा की नियमावली को लेकर विवाद और बहस अब भी जारी है। सम्भवतः यही कारण है कि आज से एक महीने पूर्व पेसा कानून के प्रावधानों को लागू करने के लिए अति-उत्साहित राज्य सरकार थोड़ा रुककर फैसला लेना चाहती है। उल्लेखनीय है कि पेसा कानून के प्रावधानों को लागू करने का जिक्र सत्ताधारी झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के घोषणा-पत्र में भी था और सार्वजनिक सभाओं में राज्य के मुखिया हेमन्त सोरेन ने पेसा कानून को लागू करने को लेकर अपनी मंशा जाहिर की थी।

पेसा यानी अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायतों के उपबन्ध (विस्तार) अधिनियम संविधान के भाग 9 के प्रावधानों को अपवादों और रूपान्तरणों के साथ अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तारित करता है। इसके तहत स्पष्ट किया गया है कि राज्य द्वारा बनाया गया कोई भी कानून पंचायतों के प्रथागत कानून, सामाजिक-धार्मिक परम्पराओं तथा समुदाय के पारम्परिक प्रथाओं के अनुरूप ही होगा। साथ ही प्रत्येक गाँव में ग्राम सभा होगी, जिसे लोगों की परम्पराओं और रीति-रिवाजों, उनकी सांस्कृतिक पहचान, सामुदायिक संसाधनों की रक्षा और पारम्परिक तरीके से विवाद निपटारा करने का अधिकार होगा। इसके अलावा प्रत्येक ग्राम सभा को सामाजिक और आर्थिक विकास की योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं को मंजूरी देने का भी अधिकार होगा, तभी वे पंचायत द्वारा लागू किये जा सकेंगे। यह बिन्दु भी प्रमुख है कि अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास और खनन से सम्बन्धित निर्णयों के लिए (राज्य सरकार को) ग्राम सभा या पंचायतों से परामर्श लेना अनिवार्य होगा। इसके अलावा जल निकायों के प्रबन्धन, मद पान की बिक्री तथा उपभोग, लघु वन उत्पादों पर स्वामित्व, गाँव के बाजारों का प्रबन्धन, ऋण व्यवस्था पर नियन्त्रण, सामाजिक क्षेत्र में कार्यरत संस्थानों और कर्मचारियों पर नियन्त्रण तथा आदिवासी भूमि के अवैध हस्तान्तरण को रोकने और उसे वापस करवाने जैसे अधिकार ग्राम सभाओं के दिये गये हैं।

यह कानून मोटे तौर पर झारखण्ड सहित पाँचवीं अनुसूची के सभी 10 राज्यों में आदिवासियों को स्वशासन का अधिकार देता है, जिसे 1996 में भारतीय संसद ने पास किया था। पेसा प्रभावी राज्यों को यह निर्देश दिया गया था कि वे इस कानून के तहत नियमावली बनाकर इसे लागू करें। ये दस राज्य झारखण्ड, आन्ध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, ओडिशा, राजस्थान और तेलंगाना हैं। इनमें से 8 राज्यों ने नियमावली बनाकर पेसा के कमोबेश नियमों को लागू कर लिया है। उड़ीसा और झारखण्ड इस कड़ी में अब

लेखक पत्रकारिता के अध्यापक रहे हैं और वर्तमान में आदिवासी विषयों पर शोध और स्वतन्त्र लेखन कर रहे हैं।
+919162455346
aryan.vivek97@gmail.com

तक पीछे हैं। पेसा कानून में यह भी वर्णित है कि एक साल के भीतर अगर राज्य पेसा की नियमावली बनाकर लागू नहीं करते हैं, तो इसे स्वतः लागू माना जाएगा। लेकिन यह व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि पेसा का सम्बन्ध राज्य में पहले से प्रभावी कई कानूनों व नियमों से है, जिसमें बदलाव किये बिना पेसा के नियम लागू नहीं किये जा सकते।

झारखण्ड के 14 जिले पाँचवीं अनुसूची क्षेत्र अन्तर्गत आते हैं, इनमें राँची, खूँटी, लोहरदगा, लातेहर, गुमला, सिमडेगा, पश्चिमी सिंहभूम, पूर्वी सिंहभूम, सराईरकेला खरसाँवा, दुमका, जामताड़ा, पलामू, गढ़वा और गोड्डा हैं। ये वे जिले हैं, जहाँ पेसा कानून प्रभावी होगा, अर्थात पंचायती राज अधिनियम 1993 लागू न होकर यहाँ उसका विस्तारित अधिनियम (पेसा) लागू होगा। साल 2022 में राज्य में पहली बार पेसा को लेकर एक ड्राफ्ट तैयार हुआ था और आदिवासी समुदायों व अन्य बुद्धिजीवियों से इस सम्बन्ध में सुझाव या आपत्तियों को आमन्त्रित किया था। इन्हीं आपत्तियों और सुझावों को ध्यान में रखते हुए एक संशोधित ड्राफ्ट तैयार किया गया है, जिसे कैबिनेट के पास भेजा गया है और जिसे लेकर इन दिनों आदिवासियों और गैर-आदिवासी समाज में चर्चाएँ हो रही हैं तथा आदिवासी समाज के भीतर भी मतान्तर देखने को मिल रहा है।

दरअसल झारखण्ड में पेसा की जो नियमावली बनी है, उसे झारखण्ड पंचायत राज अधिनियम, 2001 की धारा 131 की उपधारा (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए बनाया गया है। शुरुआत में ही लिखा है कि यह नियमावली 'झारखण्ड पंचायतों के उपबन्ध (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) नियमावली, 2023' कहलाएगी। साथ ही लिखा है कि नियमावली में अधिनियम से अभिप्रेत है झारखण्ड पंचायत राज अधिनियम, 2001। यही बिन्दु मूल विवाद का कारण है। इसे लेकर कुछ लोगों को पहले भी आपत्ति थी और अब भी आपत्ति है।

इस नियमावली के विरोध में खड़े लोगों का कहना है कि नियमावली का नाम सीधे तौर पर पेसा नियमावली होना चाहिए, न कि झारखण्ड पंचायती राज अधिनियम 2001। इस सन्दर्भ में कई लोगों के अपने तर्क हैं। आदिवासी बुद्धिजीवी मंच की तरफ से विक्टर माल्टो (सहित कई लोग) पेसा को पीपेसा कहने पर जोर देते हैं, क्योंकि अधिनियम में प्रोविजन और पंचायत शब्द का जिक्र है और इस तरह से सही संक्षेपण पेसा न होकर पीपेसा होना चाहिए। उन्हें इस बात का डर है कि सिर्फ पेसा कहकर इसके अर्थ और प्रावधानों की व्याख्या गलत तरीके से की जा रही है और इसे कमजोर करने का प्रयास किया जा रहा है। हालाँकि कुछ लोगों का दावा है कि कोर्ट ने इस तर्क को खारिज कर दिया है कि और साफ तौर पर कहा है कि इस अधिनियम को संक्षिप्त रूप में पेसा ही कहा जाये। वैसे भी विक्टर माल्टो की यह आपत्ति संक्षेपण को लेकर है, इसका अधिनियम के अन्तर्गत प्रावधानों से कोई सम्बन्ध नहीं है। पेसा और पीपेसा एक ही अधिनियम के दो संक्षेपित रूप हैं और दोनों का अर्थ और सन्दर्भ एक ही है।

विक्टर माल्टो झारखण्ड पंचायती राज विभाग द्वारा बनायी गयी नियमावली के विरोध में अपनी बात रखते हुए कहते हैं कि अनुसूचित क्षेत्रों में त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था लागू नहीं हो सकती, यह पाँचवीं अनुसूची के प्रावधानों का उल्लंघन है। इस लिहाज से पेसा लागू करने वालों का तर्क है कि झारखण्ड के अनुसूचित क्षेत्रों में 2001 से जो तीन बार पंचायत के चुनाव हुए हैं, वह गैर-संवैधानिक है, क्योंकि आदिवासी परम्परा में ग्राम सभा के अध्यक्ष मनोनीत होते हैं, न कि उनका चुनाव होता है।

ग्लैडसन डुंगडुंग कई सालों से आदिवासी अधिकारों की लड़ाई लड़ते आ रहे हैं। वे भी पेसा कानून के प्रावधानों को जेपीआरए के तहत लागू किये जाने का विरोध करते हैं। वे विक्टर माल्टो के पीपेसा वाले तर्क को तो खारिज करते हैं, लेकिन इस नियमावली के कुछ पहलुओं पर अपनी बात रखते हैं और आपत्ति दर्ज कराते हैं। मसलन जे.पी. आर.ए. की नियमावली में यह लिखा है कि यह नगरपालिका क्षेत्र और कैंटोनमेण्ट एरिया में लागू नहीं होगी, जबकि पेसा के मूल अधिनियम में ऐसा नहीं लिखा है। साथ ही वे विक्टर माल्टो की इस बात से इत्तेफाक रखते हैं कि झारखण्ड में भी स्वशासी जिला परिषद (ऑटोनोमस डिस्ट्रिक्ट काउंसिल) हो, जो दरअसल छठी अनुसूची के तहत किया गया प्रावधान है। ग्लैडसन और कई अन्य लोग साफ तौर पर कहते हैं कि पेसा के 23 प्रावधानों को सीधे तौर पर ज्यों-का-त्यों लागू किया जाना चाहिए। जिस नियमावली को लेकर सरकार आगे बढ़ रही है, वह पेसा के सभी प्रावधानों को समाहित नहीं करता, जैसा कि सरकार और कुछ लोग दावा कर रहे हैं।

पेसा की नयी नियमावली में अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि अधिग्रहण के लिए झारखण्ड सरकार के भूमि अधिग्रहण कानून 2015 को आधार बनाया गया है। इस कानून के तहत जमीन अधिग्रहण के लिए ग्राम सभाओं के समीक्षा की जरूरत नहीं है, कम्पनी या सरकार ग्राम सभाओं की अनुशंसा के बिना भी जमीन अधिगृहीत कर सकती है। जबकि इसी सम्बन्ध में केन्द्र का भूमि अधिग्रहण कानून 2013 कहता है कि अनुसूचित क्षेत्रों में जमीन अधिग्रहण अन्तिम विकल्प होगा। साफ तौर पर केन्द्रीय भूमि अधिग्रहण कानून 2013 जहाँ ग्राम सभाओं को ताकत देता है, वहीं राज्य का भूमि अधिग्रहण कानून 2015 ग्राम सभाओं को कमजोर करता है। इसे लेकर भी लोगों की आपत्ति है, वे केन्द्रीय कानून के आधार पर नियमावली बनाने की माँग कर रहे हैं।

दूसरी तरफ ग्राम सभाओं का कोरम पूरा करने का आधार भी पंचायती राज कानून को बनाया गया है, जिसके तहत यदि पहली बैठक में ग्राम सभा का कोरम पूरा नहीं होता है, तो दूसरी बैठक में कोरम की जरूरत नहीं होगी। इस सन्दर्भ में कई लोगों को डर है कि अगर कोई कम्पनी पहली बैठक में किसी तरह कुछ लोगों को बहलाकर कोरम पूरा न होने दे, तो दूसरी बैठक में वे आसानी से अपनी हितों की पूर्ति कर लेंगे।

झारखण्ड में पेसा नियमावली ड्राफ्टिंग समिति का हिस्सा रहे पत्रकार व लेखक सुधीर पाल नियमावली को लागू किये जाने के पक्ष में खड़े हैं। वे कहते हैं कि कोई

भी कानून एकांगी नहीं हो सकता, उसका सम्बन्ध अन्य कानूनों से अवश्य होता है। ऐसे ही पेसा को लागू करने के लिए झारखण्ड में प्रभावी 19 कानूनों में फेर-बदल की आवश्यकता है। ये कानून केन्द्र के भी हैं और राज्य के भी। जबकि कई ऐसे प्रावधान, जो पेसा कानून का हिस्सा हैं, वे पहले से ही राज्य के अन्य कानूनों के माध्यम से यहाँ प्रभावी हैं। उदाहरण के लिए वनाधिकार कानून, लघु खनिज या जलाशयों को लेकर बने कानूनों में पेसा के प्रावधान दूसरे रूपों में सम्मिलित हैं। अब सवाल है कि मूल कानून कौन-सा हो, किसके तहत नियमावली बने? क्योंकि पेसा 73वें संशोधन का विस्तार है, जैसा कि नाम से ही जाहिर है। बकौल सुधीर पाल, मूल कानून तो पंचायती राज अधिनियम है। इसलिए झारखण्ड ने पंचायती राज अधिनियम के तहत पेसा की नियमावली बनायी है। यहाँ इस बात का उल्लेख जरूरी है कि भारत के बाकी 8 राज्यों में पेसा के प्रावधान पंचायती राज कानून के तहत ही लागू किये गये हैं।

ग्राम सभाओं के अधिकारों की बात करते हुए सुधीर पाल कहते हैं कि नियमावली के सन्दर्भ में करीब 400 आपत्तियाँ आयी थीं, जिनमें से अधिकतर को शामिल किया गया है। अनुसूचित जिलों में गाँवों के अध्यक्ष पारम्परिक तरीके से ही मनोनित होंगे। सरकारी काम में जमीन अधिग्रहण से लेकर लाभार्थियों के चयन तक में ग्राम सभाओं को पूर्ण अधिकार दिया गया है। मद पान कानून के सन्दर्भ में राज्य का कानून है कि लोगों की सहमति के बिना दुकानें नहीं खुल सकती हैं, यही प्रावधान इस नियमावली में भी है कि अगर सरकार अनुसूचित क्षेत्रों में शराब की दुकानें खोलना चाहती है, तो उसे ग्राम सभाओं का और विशेष तौर पर महिलाओं की सहमति प्राप्त करनी होगी। इसी तरह कर्ज आदि पर क्या ब्याज है, कम्पनियाँ कैसे उसे हासिल करेंगी आदि पर भी ग्राम सभाओं को अधिकार दिये गये हैं।

झारखण्ड में बनी पेसा नियमावली, जिसे जेपीआरए के तहत लागू किये जाने की बात हो रही है, उसके समर्थन में खड़े लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि पेसा के सभी प्रावधान ज्यों-के-त्यों इसमें नहीं लाये जा सके हैं। इस बात में सच्चाई है कि इस नियमावली में कमियाँ हैं, लेकिन फिर भी राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों के विकास, उनकी स्वायत्तता और ग्राम सभाओं के सशक्तिकरण के लिए यह नियमावली लागू करने योग्य है और लागू किया जाना चाहिए।

दरअसल इस पूरे विवाद का एक अनकहा पक्ष भी है, जिसमें एक-दूसरे पर अप्रत्यक्ष तौर पर आरोप-प्रत्यारोप भी शामिल है। जो लोग नियमावली के विरोध में हैं, उन पर आरोप है कि वे पेसा को लागू नहीं होने देना चाहते हैं, इसलिए अड़चन पैदा कर रहे हैं, जबकि नियमावली में लगभग सभी प्रावधान शामिल किये गये हैं। उनका तर्क है कि 1996 से पेसा लागू नहीं किया जा सका है, कुछ लोग नहीं चाहते कि आगे भी यह लागू हो। दूसरा पक्ष नियमावली के समर्थन में खड़े लोगों पर आरोप लगाता है कि सरकारी वादे को पूरा करने की होड़ में वे एक कमजोर नियमावली बनाकर लागू करने पर तुले हुए हैं। इससे ग्राम सभाओं को वास्तविक अधिकार नहीं मिलने जा रहा है, केवल उन्हें ठगने का काम हो रहा है। विरोध और पक्ष में खड़े लोग या तो सरना पद्धति को मानने वाले हैं या ईसाई हैं, ऐसे में चर्च बनाम सरना की भी एक बहस चर्चा में है। कुछ राजनीतिक आरोप भी हैं, एक-दूसरे पर राजनीतिक पार्टियों के एजेण्डे को चलाने का आरोप लगाये जा रहे हैं।

इस बीच एक तीसरा और काफी हद तक प्रासंगिक सवाल सामाजिक कार्यकर्ता रजनी मुर्मू उठा रही हैं। वे आदिवासी महिलाओं के अधिकारों के लिए प्रखर रही हैं और पेसा में आदिवासी महिलाओं के अधिकारों को लेकर सवाल उठा रही हैं। पेसा का मूल कानून या नयी नियमावली दोनों में ग्राम सभाओं के अधिकार की बात है और ग्राम सभाओं में पुरुषों का आधिपत्य है। सभी ग्राम सभाओं के अध्यक्ष पुरुष हैं और आगे भी पुरुष ही मनोनित किये जाएँगे। ऐसे में आदिवासी समूहों की आधी आबादी अपने हक व अधिकार से वंचित ही रहेंगी, यही रजनी मुर्मू सहित कई महिला कार्यकर्ताओं की चिन्ता का विषय है। हालाँकि इस सवाल का अभी तक किसी भी स्वरूप में कोई जवाब सरकार या अन्य हितधारकों की तरफ से नहीं आया है। केवल शराब के ठेके खोलने के सन्दर्भ में महिलाओं की सहमति की बात सामने आती है, अन्य किसी भी प्रावधान अथवा नियम में महिलाओं के सशक्तिकरण या उनके उत्थान का प्रश्न हल होता नजर नहीं आता।

पेसा कानून की अगर बहुत ही सरल व्याख्या की जाये, तो कहा जा सकता है कि इसके तहत सरकार अपने हाथ से शक्तियाँ लेकर ग्राम सभाओं को देती है। यानी राज्य सरकार की शक्तियाँ कम होंगी और ग्राम सभाएँ मजबूत होंगी। इसी कारण राज्य सरकारें इस कानून को पूरी तरह लागू करने से बचती रहीं। लेकिन झारखण्ड में जब आदिवासी केन्द्रित राजनीति अपने चरम पर पहुँची, तो उनकी भावनाओं से जुड़े मुद्दों को उठाया जाने लगा। इसी कड़ी में स्थानीय नीति, सरना धर्म कोड और पेसा जैसे मुद्दे शामिल किये गये। इन सभी मुद्दों पर हेमन्त सोरेन की सरकार ने वांछित निर्णय लिये और पेसा जैसे विषयों पर भी खुलकर सामने आये। लेकिन वर्तमान विवाद के कारण यह मामला कुछ दिन और रुका रह सकता है, क्योंकि इस विवाद के दोनों तरफ हेमन्त को वोट करने वाले या उनके वोट को प्रभावित करने वाले लोग हैं।

हालाँकि पेसा के बाद राज्य में क्या बदल जाएगा, या आदिवासियों की आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्थिति में कितनी सुधार आ जाएगी, यह सवाल अब भी मौजू है। कई खेमों में इस तरह के सवाल उठ रहे हैं, जो मूल विवाद के शोर में दब जा रहे हैं। झारखण्ड का गैर-आदिवासी तबका इस कानून को कैसे देखता है, इसे लेकर कोई जानकारी कहीं उपलब्ध नहीं है, ना ही वे इस बहस का हिस्सा हैं। लेकिन इतना जरूर है कि यदि पेसा के मूल प्रावधान सही रूप से राज्य में लागू किये जाते हैं, तो अनुसूचित क्षेत्र के निवासी विकास की प्रक्रिया में अपनी दिशा खुद तय कर सकेंगे।

■

डंकी रूट की कड़वी हकीकत

अजय सिंह

हरियाणा

कई परिवार अपनी जमीन बेचकर या कर्ज लेकर यह रकम जुटाते हैं, लेकिन जब उनका बेटा या भाई बीच रास्ते में लापता हो जाता है, तो उनके पास पछतावे के सिवाय कुछ नहीं बचता। डंकी रूट पर सबसे खतरनाक हिस्सा पनामा का डेरियन गैप है, जो घना जंगल और दलदली इलाका है। यह क्षेत्र लगभग 160 किलोमीटर लम्बा है और यहाँ कोई पक्की सड़क नहीं है। बारिश के कारण लोग कीचड़ में फँस जाते हैं और कुछ की तो मृत्यु भी हो जाती है।

हरियाणा के कई युवा विदेश जाने का सपना देखते हैं। अमेरिका और यूरोप में 'सुनहरे अवसर' की तलाश उन्हें मजबूर करती है कि वे अपने घर-परिवार को छोड़कर अनजान सफर पर निकल जाएँ। लेकिन जब यह सफर वैध तरीके से सम्भव नहीं हो पाता, तो कई युवा 'डंकी रूट' जैसे खतरनाक और अवैध रास्तों का सहारा लेते हैं। बेरोजगारी और आर्थिक तंगी उन्हें खतरनाक और अवैध मार्गों पर चलने के लिए मजबूर करती है। राज्य में उच्च शिक्षित युवा भी अच्छी नौकरियों की कमी के कारण विदेश जाने की कोशिश कर रहे हैं। अमेरिका की चमक-धमक और वहाँ की जीवन-शैली की कल्पना उन्हें किसी भी जोखिम को उठाने के लिए प्रेरित करती है।

डंकी रूट : खतरनाक सफर

डंकी रूट एक अवैध प्रवासन मार्ग है, जिससे होकर भारतीय युवा दक्षिण अमेरिकी देशों; जैसे इक्वाडोर, वेनेजुएला, कोलम्बिया से होते हुए मैक्सिको पहुँचते हैं और वहाँ से अमेरिका में घुसने का प्रयास करते हैं। यह सफर अत्यन्त कठिन और जोखिम भरा होता है। घने जंगलों, ऊबड़-खाबड़ पहाड़ों, विषैले जानवरों और हिंसक समूहों से भरा यह मार्ग प्रवासियों के लिए 'मौत का सफर' बन जाता है। कई लोग रास्ते में दम तोड़ देते हैं, तो कई अमेरिकी सीमा पर पहुँचने के बाद पकड़े जाते हैं और उन्हें शर्मनाक तरीके से वापस भेज दिया जाता है। डंकी रूट को आसान दिखाने के लिए दलालों और एजेण्टों का एक संगठित नेटवर्क काम करता है। वे लोगों को भ्रमित करने के लिए झूठी कहानियाँ गढ़ते हैं कि 'अमेरिका में पहुँचते ही आसानी से नौकरी मिल जाएगी, ' 'ग्रीन कार्ड जल्दी मिल जाएगा, ' या 'कोई खतरा नहीं होगा।' इसके बदले वे 40-50 लाख रुपये तक वसूलते हैं।

कई परिवार अपनी जमीन बेचकर या कर्ज लेकर यह रकम जुटाते हैं, लेकिन जब उनका बेटा या भाई बीच रास्ते में लापता हो जाता है, तो उनके पास पछतावे के सिवाय कुछ नहीं बचता। डंकी रूट पर सबसे खतरनाक हिस्सा पनामा का डेरियन गैप है, जो घना जंगल और दलदली इलाका है। यह क्षेत्र लगभग 160 किलोमीटर लम्बा है और यहाँ कोई पक्की सड़क नहीं है। बारिश के कारण लोग कीचड़ में फँस जाते हैं और कुछ की तो मृत्यु भी हो जाती है। जहरीले साँपों और जंगली जानवरों का खतरा हमेशा बना रहता है। यहाँ से प्रवासी गुजरते रहते हैं, इस वजह से वहाँ लुटेरे और अपराधियों की संख्या बढ़ गयी है, जो मौका मिलते ही प्रवासियों को लूट लेते हैं, कई बार महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार की घटनाएँ भी सामने आयी हैं। इतने लम्बे सफर में बीमार होने

लेखक हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय से पत्रकारिता में पी-एच.डी. कर रहे हैं और साहित्य में गहरी रुचि रखते हैं।
+91 6280385104
ajeymalik01@gmail.com

पर न कोई इलाज मिलता है और न ही कोई सुविधाजनक दवाइयाँ। इसलिए कई बार बीमारियों से भी प्रवासी व्यक्ति अपने प्राण त्याग देता है। बीमारी से मरने वालों की संख्या भी काफी अधिक बतायी जाती रही है। एक बचकर निकले युवक ने बताया, ''हमने चार दिन तक सिर्फ नमकीन पानी पिया, कई लोगों की मौत हो गयी। कुछ लाशें तो जंगल में ही पड़ी रहीं, क्योंकि कोई उन्हें उठाने वाला नहीं था।''

केवल डंकी प्रवासी को ही पीड़ा का सामना नहीं करना होता है, पीड़ा का सामना प्रवासी के परिजन भी करते हैं। प्रवासी के परिजन हर दिन मानसिक पीड़ा का सामना करते हैं। क्योंकि जब कोई युवक इस खतरनाक सफर पर निकलता है, तो उसके परिवार के लिए हर दिन चिन्ता और डर से भरा होता है। कई बार हफ्तों तक किसी का फोन नहीं आता, जिससे माता-पिता की हालत खराब हो जाती है। किसी-किसी का फोन आखिरी बार इक्वाडोर से आता है और फिर महीनों तक कोई खबर नहीं मिलती। कई बार दलालों द्वारा बन्धक बनाये जाने की खबरें भी आती हैं, जिनमें फिरौती माँगी जाती है। कई बार जब प्रवासी घर बात करने या वापस जाने की बात करता है, तो एजेण्ट के द्वारा उन्हें या तो गोली मार दी जाती है या लाठी डण्डों से पीट-पीटकर मार दिया जाता है। यदि कोई प्रवासी अमेरिका की सीमा पार करने की कोशिश करता है और पकड़ा जाता है, तो उसे हिरासत में डाल दिया जाता है। हाल ही में, अमेरिका से सैकड़ों भारतीयों को डिपोर्ट किया गया।

इसमें प्रमुख रूप से हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश व गुजरात के व्यक्ति शामिल हैं। हाल ही में अमेरिका से डिपोर्ट किये गये 332 भारतीयों में से 112 हरियाणा से थे, जो इस प्रवृत्ति की गम्भीरता को दर्शाता है। अमेरिका द्वारा अलग-अलग समय पर भेजी गयी तीन उड़ानों में हरियाणा के प्रवासियों की संख्या उल्लेखनीय रही। पहली उड़ान में 104 में से 35, दूसरी में 116 में से 33 और तीसरी उड़ान में 112 में से 44 लोग हरियाणा के निवासी थे। यह आँकड़े बताते हैं कि हरियाणा में भी बेरोजगारी और विदेश जाने की लालसा युवाओं को अवैध रास्तों की ओर धकेल रही है। जब ये लोग भारत लौटे, तो उनके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ थीं। सोशल मीडिया पर तस्वीरें वायरल हुईं, और लोगों ने सवाल उठाया–''क्या इनके साथ आतंकवादियों जैसा व्यवहार किया जाना चाहिए? ये तो सिर्फ रोजगार की तलाश में गये थे।''

यदि मामला अन्तरराष्ट्रीय हो जाये तो राजनीतिक बहस होना स्वाभाविक है, इस मुद्दे पर भी यही हुआ। जैसे ही युवाओं को डिपोर्ट किया गया इस मामले ने तूल पकड़ लिया और राजनीतिक मतभेद शुरू हो गये। इस मुद्दे पर अब भी निरन्तर राजनीतिक दलों के बीच आरोप-प्रत्यारोप का खेल चल रहा है। विपक्ष (काँग्रेस) का कहना है कि ''भाजपा सरकार की नीतियों ने युवाओं को विदेश भागने के लिए मजबूर कर दिया।'' वहीं सत्ताधारी भाजपा का कहना है कि ''अवैध प्रवासन रोकने के लिए सरकार ने कड़े कानून बनाये हैं और रोजगार बढ़ाने के लिए नयी योजनाएँ शुरू की हैं।'' लेकिन सच यह है कि जब तक देश में पर्याप्त नौकरियाँ और सम्मानजनक जीवन जीने के अवसर नहीं होंगे, तब तक युवा ऐसे खतरनाक रास्ते अपनाने के लिए मजबूर होते रहेंगे। आखिर क्यों चुनते हैं युवा डंकी रूट?

बेरोजगारी और आर्थिक तंगी

भारत में बेरोजगारी दर लगातार बढ़ रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में नौकरी के अवसर बेहद कम हैं। हरियाणा राज्य बेरोजगारी दर में शीर्ष पर है। इसके साथ-साथ वर्तमान समय में सोशल स्टेटस का दबाव भी डंकी रास्ता चुनने को युवाओं को मजबूर करता है। कई गाँवों में 'विदेश गया लड़का' परिवार का सम्मान बढ़ाता है, जिससे युवा विदेश जाने के लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं। अक्सर यह देखने को मिलता है जब किसी गाँव का कोई व्यक्ति अमेरिका पहुँच जाता है तब उस रात व्यक्ति के परिजन पटाखे व डीजे पार्टी कर जश्न मनाते हैं। लेकिन डंकी रास्ते युवा इसलिए भी चुनते हैं क्योंकि आज सरल कानूनी प्रवासन मार्गों की कमी है। अमेरिका, कनाडा और यूरोप में कानूनी तौर पर जाना बेहद कठिन और काफी महँगा हो गया है।

अब गहरा विषय यह है कि इस संकट को कैसे रोका जाये? सरकार और समाज को इस समस्या को गम्भीरता से लेना होगा। इसके लिए ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में नयी नौकरियाँ पैदा करनी होंगी, ताकि युवाओं को विदेश जाने की मजबूरी न हो। सरकार को विशेष रूप से टेक्नोलॉजी, कृषि और स्टार्टअप सेक्टर में अवसर बढ़ाने पर ध्यान देना चाहिए। साथ-साथ अवैध प्रवासन को बढ़ावा देने वाले दलालों पर कड़ी कार्यवाही करनी चाहिए। सरकार को साइबर प्लेटफॉर्म और लोकल एजेण्टों की गतिविधियों पर नजर रखनी होगी। सरकार की मुख्य भूमिका होनी चाहिए कि वह अमेरिका और अन्य देशों से बातचीत कर भारतीयों के लिए वैध वीजा और रोजगार के अवसर बढ़ाये। साथ ही, उच्च शिक्षित भारतीय युवाओं को विदेशों में रोजगार प्राप्त करने के लिए विशेष योजनाएँ बनायी जानी चाहिए। आज छोटे-छोटे बच्चे व विद्यार्थी विदेश पलायन का ख्वाब देखते हैं, इसके लिए स्कूलों और कॉलेजों में सेमिनार आयोजित कर बताया जाना चाहिए कि डंकी रूट कितना खतरनाक है। सोशल मीडिया, टीवी और समाचार-पत्रों के माध्यम से लोगों को इसके खतरों के बारे में सूचित किया जाना चाहिए। इन सबके अलावा, सबसे प्रमुख 'लोकतन्त्र के चौथे स्तम्भ-मीडिया' को इस मुद्दे को जोर-शोर से उठाना चाहिए, ताकि लोग हकीकत जान सकें। प्रवासियों की असली कहानियाँ सामने लाकर जागरूकता फैलायी जानी चाहिए। डंकी रूट सिर्फ एक अवैध प्रवासन मार्ग नहीं, बल्कि हमारे देश की युवा शक्ति की हताशा और निराशा को दर्शाता है। जब तक हम अपने देश में अवसर पैदा नहीं करेंगे, तब तक लोग खतरनाक रास्तों को अपनाते रहेंगे। सरकार, समाज और परिवारों को मिलकर इस समस्या का समाधान निकालना होगा।

■

लोकतन्त्र और संविधान की चिन्ता किसे है

रविभूषण

चतुर्दिक

लोकतन्त्र के गर्भ से ही फासीवाद, अधिनायकवाद जन्म लेता है और तानाशाह सत्ता में आता है। अब हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के राजनीतिक वैज्ञानिक स्टीवन लेवित्सकी और डेनियल जिबलैट की पुस्तक 'हाउ डेमोक्रेसीज डाइः व्हाट हिस्ट्री रिवील्स अबाउट आवर फ्यूचर' (क्राउन, 16 जनवरी, 2018) का हिन्दी अनुवाद हो चुका है। लोकतान्त्रिक पद्धति से निर्वाचित नेता क्रमशः लोकतान्त्रिक प्रकिया को भी नष्ट कर सकता है। दुनिया में इसके अनेक उदाहरण हैं।

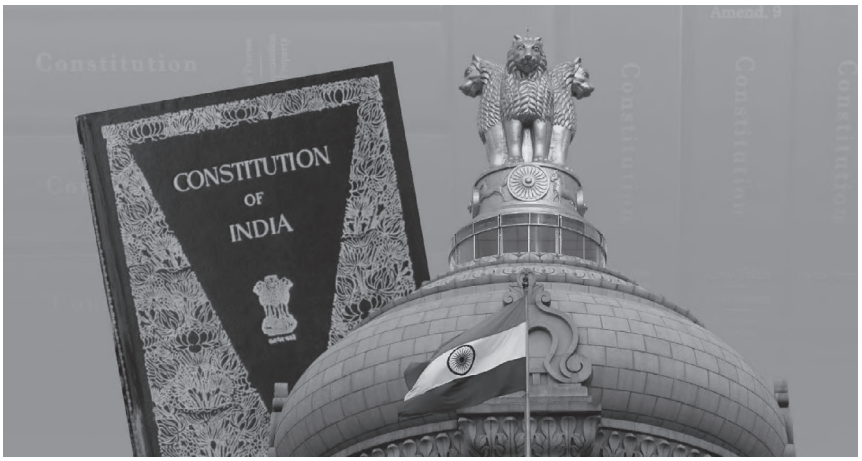

भारतीय लोकतन्त्र एवं संविधान की चिन्ताएँ लगातार बढ़ रही हैं, पर इसका निदान दिखाई नहीं पड़ता। विगत दस-ग्यारह वर्ष से, जब से केन्द्र में भाजपा की सरकार बनी और नरेन्द्र मोदी प्रधानमन्त्री बने, भारतीय लोकतन्त्र को कमजोर किया गया है और संविधान की अनदेखी की गयी है। प्रत्येक संस्था की स्वायत्तता नष्ट की जा चुकी है। देश की जनता दो हिस्सों में बँट चुकी है। एक हिस्सा प्रधान मन्त्री नरेन्द्र मोदी के भक्तों और समर्थकों का है, दूसरा उनके विरोधी और आलोचकों का। प्रशंसक और समर्थक शायद ही यह स्वीकारें कि लोकतन्त्र संकट में है और संवैधानिक मूल्यों पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। दूसरी ओर, लोकतान्त्रिक एवं संवैधानिक मूल्यों को समाप्त होते देखकर चिन्तित व्यक्ति हैं। वर्तमान सरकार एवं व्यवस्था के प्रति विरोध कम नहीं है पर न देशव्यापी कोई लहर है, न आन्दोलन। अठारहवीं लोक सभा (2024) के चुनाव में बहुमत (272) से बत्तीस सीट कम (240) पाने के बाद भी भाजपा 14 दलों के सहयोग से सत्ता में है और नरेन्द्र मोदी तीसरी बार प्रधानमन्त्री के पद पर विराजमान हैं। उन्हें भाजपा संसदीय दल ने अपना नेता 2024 में नहीं चुना। अठारहवीं लोकसभा के चुनाव परिणामों के बाद 7 जून, 2024 को सेण्ट्रल हॉल में हुई एन.डी.ए. (राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन) की बैठक में नरेन्द्र मोदी को सर्वसम्मति से नेता चुना गया था। भाजपा के सांसदों ने स्वतन्त्र रूप से अपनी बैठक में उन्हें सर्वसम्मति से अपना नेता नहीं चुना। उनके प्रधानमन्त्री बनने के बाद, 2014 से ही भारतीय लोकतन्त्र अधिक घायल और लहूलुहान हुआ है। संविधान की उद्देशिका में 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' का जो उल्लेख है, वह लोकतन्त्र राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक भी है। समाज के लोकतन्त्रात्मक होने का अर्थ, उसमें 'न्याय, स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता' की भावना का होना है। राजनीतिक और सामाजिक लोकतन्त्र विगत दस-ग्यारह वर्ष में कहीं अधिक घायल हुआ है, किया गया है।

हमारा संविधान केवल राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक लोकतन्त्र का भी वचन देता है। डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में अपने समापन भाषण में सामाजिक लोकतन्त्र का अर्थ स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुता को मान्यता देने वाली जीवन-पद्धति माना था। उन्होंने इन तीनों स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुता को अलग-अलग न देखकर त्रिमूर्ति के रूप में देखा था, त्रिमूर्ति का एकीकरण कहा था। स्वतन्त्रता को समानता से अलग नहीं किया जा सकता, समानता को स्वतन्त्रता से पृथक नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार स्वतन्त्रता और समानता को बन्धुत्व से विलग नहीं किया जा सकता। उनकी चिन्ता में केवल राजनीतिक लोकतन्त्र नहीं था। यदि राजनीतिक लोकतन्त्र का आधार सामाजिक लोकतन्त्र नहीं है, तो वह नष्ट हो जाएगा। ''क्या विगत दस वर्ष में

लेखक जन संस्कृति मंच के राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं।
+919431103960
ravibhushan1408@gmail.com

राजनीतिक और सामाजिक लोकतन्त्र, दोनों को कमजोर नहीं किया गया है? इसे कमजोर करने वाली शक्ति को लोकतन्त्र से कोई मतलब नहीं है। लोकतान्त्रिक पद्धति से निर्वाचित होने के बाद भी उसे सही अर्थों में राजनीतिक और सामाजिक लोकतन्त्र की चिन्ता नहीं है। देश की सामान्य जनता लोकतन्त्र और संविधान के महत्त्व से परिचित है। जो शिक्षित भद्रजन हैं, उनकी चिन्ता में भी लोकतन्त्र और संविधान नहीं है। भारतीय मध्य वर्ग का वह भाग, जो साधन-सम्पन्न है, आर्थिक समस्याओं-चिन्ताओं से मुक्त है, उसे भी लोकतन्त्र और संविधान की कम चिन्ता है। राजनीतिक लोकतन्त्र की नींव है सामाजिक एवं आर्थिक लोकतन्त्र। आर्थिक न्याय का लक्ष्य आर्थिक लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य की स्थापना था। लोकतन्त्र पर विचार करने वालों में से अब बहुत कम आर्थिक न्याय और सामाजिक न्याय पर विचार करते हैं।

संविधान ने हमें जो तीन अधिकार सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के लिए दिये थे, उन अधिकारों को किसने छीना या भारतीय जनता को उनसे वंचित किया? क्या आज इन तीन अधिकारों का हनन नहीं हुआ है? संविधान की उद्देशिका में जिस स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता का जिक्र है, क्या उसे सुरक्षित एवं संरक्षित किया गया है? यह जवाबदेही सरकार की, राजनीतिक दलों की, नेताओं की थी। स्वतन्त्र और सभ्य जीवन जीने के लिए जो आवश्यक न्यूनतम अधिकार है, उसके बिना वास्तविक लोकतन्त्र स्थापित नहीं हो सकता।

स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुता की समाप्ति लोकतन्त्र की समाप्ति है, संविधान में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता की प्राप्ति का उल्लेख है। भारतीय नागरिकों को क्या यह सब प्राप्त है या उसे इन सबसे वंचित किया गया है? सामाजिक न्याय मूल अधिकार है, स्वतन्त्र भारत में भारतीय नागरिकों की स्वतन्त्रता, जिसमें अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी शामिल है, को कम किया गया है। सामाजिक संरचना में जो असमानताएँ विद्यमान थीं, उसे समाप्त करने का दायित्व सरकारों और राजनीतिक दलों का था, पर असमानताएँ दूर न कर और अधिक बढ़ायी गयीं। एक नागरिक और दूसरे नागरिक के बीच जाति, समुदाय और धर्म के आधार पर चुनाव जीतने और सत्ता प्राप्त करने के लिए भेद-विभेद उत्पन्न किये गये, बढ़ाये गये। लोकतन्त्र को खोखला भारतीय नागरिकों ने नहीं, राजनीतिक दलों ने किया। पहले यह खोखला नहीं किया गया था, यह कार्य आर.एस.एस., भाजपा और उसके नेताओं ने किया। उसने बन्धुता समाप्त की। भारत बहुभाषिक, बहुधार्मिक, बहु सांस्कृतिक देश है, इसलिए भारत जैसे देश में बन्धुता की भावना का होना, उसे विकसित करना विशेष आवश्यक है। स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुता लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है। संविधान की उद्देशिका के विपरीत क्या हमारे देश की सरकार कार्यरत नहीं है?

जिन लोगों ने विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति सच्ची श्रद्धा और निष्ठा रखने की शपथ ली है, उनमें से अधिसंख्य ने अपनी शपथ का निर्वाह नहीं किया है, सांसद हों या मन्त्री या उनसे भी ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित विशिष्ट जन ही क्यों न हों? 2014 के बाद सारा परिदृश्य बदल दिया गया है। आर.एस.एस. के एजेण्डे में हिन्दू राष्ट्र का निर्माण है और भारतीय संविधान इसकी इजाजत नहीं देता। यह संविधान 26 नवम्बर, 1949 को पारित और 26 जनवरी, 1950 से प्रभावी है। जो भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना, सभी प्रकार के लोगों के प्रति संविधान और विधि के अनुसार कार्य करने की शपथ लेते हैं, उन्होंने ही संविधान की गरिमा नष्ट की है।

2014 के बाद भय और पक्षपात बढ़ा है, राग और द्वेष भी। भाजपा नेताओं और मन्त्रियों ने संविधान की शपथ लेकर संविधान बदलने की बात कही है। आर.एस.एस. इस भारतीय संविधान के पक्ष में नहीं है। उसके प्रचारक और स्वयं सेवक ही नहीं, उसकी राजनीतिक शाखा भी इस संविधान के पक्ष में नहीं है। 2014 के बाद ही लोकतन्त्र और संविधान बचाने और उस पर मँडराते खतरों की बात बार-बार कही गयी है। पिछले लोकसभा चुनाव (2024) में संविधान और लोकतन्त्र की रक्षा 'इण्डिया' गठबन्धन के लिए प्रमुख थी। प्रबुद्ध नागरिकों का एक वर्ग यह कह सकता है कि भारत में लोकतन्त्र और संविधान खतरे में नहीं है। यह केवल विपक्ष की और कुछ लोगों की मनगढ़न्त बातें हैं। आर.एस.एस. में सर संघ चालक का चुनाव लोकतान्त्रिक रूप से नहीं होता, जिस संगठन में लोकतान्त्रिक मूल्यों की उपेक्षा हो, उससे लोकतन्त्र की रक्षा की बात करना गलत है। आज लोकतन्त्र के सभी स्तम्भों विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और प्रेस को देखें। क्या लोकतान्त्रिक और संवैधानिक संस्थाओं की स्वायत्तता कायम है या उसका अपहरण किया जा चुका है, उसकी स्वतन्त्रता नष्ट की जा चुकी है। 2002 से जो विश्व-प्रेस स्वतन्त्रता सूची (वर्ल्ड प्रेस फ्रीडम इण्डेक्स) बन रही है, उसमें भारत 2014 में 140वें नम्बर पर था और 2024 में 180 देशों की सूची में उसका स्थान 159 है।

लोकतन्त्र और संविधान बचाने की बात बार-बार कही जा रही है, पर इसे बचाने वाली शक्तियों की चर्चा नहीं की जाती है, शाहीनबाग आन्दोलन में पहली बार भारत का संविधान हजारों महिलाओं के हाथों में आया और सबने समवेत स्वरों में संविधान की उद्देशिका का पाठ किया। सांसदों ने संसद में हाथ में संविधान लेकर शपथ ली है। देश में लोकतन्त्र और संविधान की बिगड़ती हालत को लेकर काफी कुछ लिखा-कहा जा रहा है, पर कोई सुनने को तैयार नहीं है। इन दोनों की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर न तो कोई पहल है, न आन्दोलन। हालात बहुत अधिक बिगड़ चुके हैं। पिछले वर्ष (6 अगस्त, 2024) यूनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन प्रेस से सुमित गांगुली, दिनशा मिस्त्री और लेरी डायमण्ड की सम्पादित पुस्तक आयी है 'द ट्रबलिंग स्टेट ऑफ इण्डियाज डेमोक्रेसी'। दो महीने बाद इसी वर्ष (2024) में जोया हसन की किताब प्रकाशित हुई–'डेमोक्रेसी ऑन ट्रायलः मेजॉरिटेरिएनिज्म एण्ड डीसेण्ट इन इण्डिया' (आकार बुक्स)। पुस्तकों, लेखों की कोई कमी नहीं है, जिनमें लोकतन्त्र और संविधान को लेकर गम्भीर चिन्ताएँ हैं। क्या सचमुच राजनीतिक दलों में, विपक्षी दलों में भी, उनके नेताओं में, मन्त्रियों में, प्रमुखों में चिन्ताएँ हैं या वे सब यह मानते हैं कि सब कुछ सही है, ठीक है। अब हमें यह सवाल करना होगा कि लोकतन्त्र और संविधान की चिन्ता किसे

है? बेहतर है, पहले हम राजनीतिक दलों को देखें।

इस समय अठारहवीं लोकसभा में कुल 41 दलों के सांसद हैं और 7 निर्दलीय सांसद हैं। सबने संविधान के प्रति सच्ची श्रद्धा और निष्ठा रखने की बात कही है। केन्द्र में भाजपा और उसके समर्थक राजनीतिक दलों, राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन (राजग) की सरकार है। अन्य दलों के सहयोग के बिना केन्द्र में भाजपा की सरकार नहीं बन सकती थी और न नरेन्द्र मोदी तीसरी बार प्रधानमन्त्री होते। भाजपा को 14 दलों ने अपने 53 सांसदों का साथ दिया और कुल 293 की संख्या से राजग की सरकार बनी, नरेन्द्र मोदी प्रधानमन्त्री बने। इन चौदह दलों के प्रमुखों–तेलुगु देशम पार्टी के चन्द्रबाबू नायडू, जदयू के नीतीश कुमार, हिन्दुस्तानी अवाम मोर्चा के जीतन राम माँझी, लोक जनशक्ति पार्टी रामविलास के चिराग पासवान, शिवसेना शिन्दे के एकनाथ शिन्दे, जनता दल सेकुलर के एच. डी. देवेगौड़ा, राष्ट्रीय लोक दल के जयन्त चौधरी, जनसेना पार्टी के पवन कल्याण, अपना दल सोनेवाल की अनुप्रिया पटेल, असम गण परिषद के अतुल बोरा, यू. पी. पी. लिबरल (असम) के प्रमोद बोरो, आजसू के सुदेश महतो, नेशनल काँग्रेस पार्टी पवार के अजित पवार और सिक्किम क्रान्तिकारी मोर्चा के प्रेम सिंह तमाँग से भारतीय लोकतन्त्र और संविधान से जुड़े कुछ बड़े सवाल अब पूछने की जरूरत है। चौदह राजनीतिक दलों के प्रमुख भारतीय लोकतन्त्र और संविधान की वर्तमान स्थिति पर क्या राय रखते हैं? जवाब केवल दो होंगे। सब कुछ ठीक है। समय पर चुनाव हो रहे हैं। सरकारें बन रही हैं और स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व सब कायम है। भाजपा को समर्थन देने के कुछ कारण अवश्य रहे होंगे। अभी तक शायद ही किसी ने इन 14 दलों के प्रमुखों से लोकतन्त्र और संविधान को लेकर किसी प्रकार का प्रश्न किया है और न प्रेस वार्ता की है। राजनीतिक दल लोकतन्त्र के सार भाग में एक है। मतदाताओं की इनमें आस्था बढ़ी है या घटी है? लोकतन्त्र को मतदाताओं ने शक्ति और गति दी है। उन्होंने मतदान से बार-बार राजनीतिक दलों को एक सन्देश भी दिया है, उन्हें बहुमत देकर या अल्पमत में लाकर, पर राजनीतिक दलों ने उनके ऐसे सन्देशों को कभी नहीं समझा। उनके सामने कोई स्वस्थ और भरोसेमन्द विकल्प नहीं रखा। लोकतन्त्र में राजनीतिक दल ही सब कुछ हैं क्योंकि वे ही चुनाव लड़कर सरकारें बनाते हैं, लैरी डायमण्ड एवं रिचर्ड ग्रन्थर ने मिलकर इस शताब्दी के आरम्भ में ही एक पुस्तक सम्पादित की थी 'पालिटिकल पार्टीज एण्ड डेमोक्रेसी' (जॉन्स हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001)। लोकतन्त्र के गर्भ से ही फासीवाद, अधिनायकवाद जन्म लेता है और तानाशाह सत्ता में आता है। अब हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के राजनीतिक वैज्ञानिक स्टीवन लेवित्सकी और डेनियल जिबलैट की पुस्तक 'हाउ डेमोक्रेसीज डाइः व्हाट हिस्ट्री रिवील्स अबाउट आवर फ्यूचर' (क्राउन, 16 जनवरी, 2018) का हिन्दी अनुवाद हो चुका है। लोकतान्त्रिक पद्धति से निर्वाचित नेता क्रमशः लोकतान्त्रिक प्रकिया को भी नष्ट कर सकता है। दुनिया में इसके अनेक उदाहरण हैं। हिटलर को 1932 के चुनाव में सफलता नहीं मिली थी, वह जर्मन सैन्य नेता और राजनेता पॉल वॉन हिण्डनवर्ग से हार गया था। जुलाई, 1932 में नाजी पार्टी रैहस्टाग (जर्मनी की संसद का निचला सदन) में सबसे बड़ी पार्टी बनी थी, पूर्ण बहुमत से कम। पारम्परिक रूप से रैहस्टाग में सबसे अधिक सीटें प्राप्त करने वाले दल के नेता को ही चांसलर नियुक्त किया जाता था। राष्ट्रपति वान हिण्डनबर्ग हिटलर को नियुक्त करने के पक्ष में नहीं थे, पर बाद में उन्होंने सहमति दी और 30 जनवरी, 1933 को औपचारिक रूप से एडोल्फ हिटलर को जर्मनी का नया चांसलर नियुक्त किया गया। रैहस्टाग में आग लगाये जाने के बाद हिटलर का रास्ता साफ हो गया। यहाँ हिटलर की चर्चा केवल इसलिए कि तानाशाह भी लोकतन्त्र का लबादा ओढ़ता है।

दुनिया के लगभग 167 देशों में किसी-न-किसी प्रकार का लोकतन्त्र है, पर भारत की स्थिति अन्य सभी देशों से भिन्न है। यह विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है, इसलिए यहाँ लोकतान्त्रिक संस्थाओं एवं मूल्यों का विघटन किसी भी सचेत भारतीय नागरिक के लिए चिन्ता का विषय है, अभी लोकतन्त्र के बाजार मॉडल (मार्केट मॉडल) का उल्लेख किया जाता है। अमेरिकी अर्थशास्त्री एन्थोनी डाउंस एवं ऑस्ट्रियन राजनीतिक अर्थशास्त्री शुम्पीटर ने इस पद (टर्म) 'मार्केट मॉडल' को जन्म दिया। कहा जाता है कि दुनिया के अनेक लोकतान्त्रिक देश सही अर्थों में लोकतान्त्रिक नहीं हैं। अमेरिकी लोकतन्त्र को बहुत पहले ही 'कॉरपोरेटोक्रेसी' कहा गया था। जो राजनीतिक दल कॉरपोरेट से चन्दा लेकर चुनाव लड़ता है, उसके लिए कॉरपोरेट प्रमुख है। भारतीय लोकतन्त्र की कॉरपोरेट तन्त्र की ओर उन्मुखता भारतीय लोकतन्त्र के लिए घातक है। अमेरिका में लोकतन्त्र पर मँडराते खतरों की सही पहचान बहुत पहले कर ली गयी थी। प्रोफेसर विलियम ई. हडसन की पुस्तक 'अमेरिकन डेमोक्रेसी इन पेरिलः एट चैलेंजेज टू अमेरिकन फ्यूचर' के अब तक नौ संस्करण आ चुके हैं। नरेन्द्र मोदी के प्रधानमन्त्री बनने के बाद भारतीय लोकतन्त्र पर समाज वैज्ञानिकों एवं बुद्धिजीवियों का ध्यान अधिक गया। विगत दस वर्ष में लगभग दस पुस्तकें प्रकाशित हुईं। यह तर्क और साक्ष्य देकर कि दुनिया-भर में अभी लोकतन्त्र पर खतरा है और सत्तावाद फैल रहा है, हम चुप और शान्त नहीं रह सकते। निश्चित रूप से अभी हम भारत को चीन, ईरान, रूस, सऊदी अरब और वेनेजुएला जैसे देशों की पंक्ति में नहीं रख सकते, जिस पर विचार लैरी डायमण्ड, मरे एफ. प्लेटनर और क्रिस्टोफर वाकर ने ऑथोरिटरियनिज्म गोज ग्लोबलः द चैलेंज टू डेमोक्रेसी (जॉन्स हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस, 15 अप्रैल, 2016) में किया है। कई विचारकों एवं विद्वानों का यह मत है कि पूरी दुनिया एक लोकतान्त्रिक अपगमन (रिसेशन) की ओर उन्मुख है और एक वैश्विक सत्तावाद हमें दिखाई दे रहा है।

12 जनवरी, 2018 को जब सुप्रीम कोर्ट के चार वरिष्ठ जजों ने प्रेस कॉफ्रेंस कर कोर्ट की असलियत सामने रखी और देशवासियों को सावधान किया, आगाह किया, लोकतन्त्र के सम्बन्ध में, उस समय से लेकर अब तक के सात वर्षों में हमने क्या किया? क्या सुप्रीम कोर्ट ने भी उसके बाद अपने वरिष्ठतम साथियों से कुछ सीखा, आज जे चेलमेश्वर को कितने लोग जानते हैं? देश के राजनीतिक दलों और उनके नेताओं पर लोकतन्त्र और संविधान की रक्षा की जिम्मेदारी है। अब यह वक्त है कि हम काँग्रेस के मल्लिकार्जुन खड़गे, समाजवादी पार्टी के अखिलेश यादव, तृणमूल काँग्रेस की ममता बनर्जी, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (द्रमुक)

के एम. के. स्टालिन, शिवसेना उद्धव बाला साहब ठाकरे दल के उद्धव ठाकरे, राष्ट्रवादी काँग्रेस पार्टी के शरद पवार, युवजन श्रमिक रायथू काँग्रेस पार्टी के वाई.एस. जगनमोहन रेड्डी, राष्ट्रीय जनता दल के तेजस्वी यादव, भाकपा माकपा के नेता और भाकपा माले के दीपंकर भट्टाचार्य, आम आदमी पार्टी के अरविन्द केजरीवाल, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के हेमन्त सोरेन, नेशनल कांफ्रेंस के फारुख अब्दुल्ला, विदुथलाई चिरुथिगल काची के थोल थिरुमावलवन, यूनाइटेड पीपुल्स पार्टी लिबरल (असम) के प्रमोद बोरो, केरल काँग्रेस के पी. जे. जोसेफ, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी के मनोज भट्टाचार्य, वाइस ऑफ द पीपुल्स पार्टी (मेघालय) के अर्देण्ट मिलर बसियावमोइत, जोरम पीपुल्स मूवमेण्ट (जेड पी एम मिजोरम) के लाल होमा, शिरोमणि अकाली दल के सुखबीर सिंह बादल, राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक पार्टी (राजस्थान) के हनुमान बेनीवाल, भारतीय आदिवासी पार्टी (राजस्थान) के राजकुमार रोत, एम. डी. एम. के (तमिलनाडु) के वाइको और आजाद समाज पार्टी कांशीराम के चन्द्रशेखर आजाद और ऑल इण्डिया मजलिस ए इत्तेहादुल मुस्लिमीन के असदुद्दीन ओवैसी से पूछें कि आप सब जो 26 राजनीतिक दलों के प्रमुख हैं और भाजपा सहित 14 दलों के गठबन्धन एन.डी.ए. में नहीं हैं, लोकतन्त्र की बिगड़ती हालत और संवैधानिक मूल्यों को लेकर क्या सोचते हैं, कितने चिन्तित हैं? क्या केवल चुनाव के समय ही लोकतन्त्र और संविधान की चिन्ता रहती है, और बाद के दिनों में नहीं? क्या अब लोकतन्त्र बचाओ, संविधान बचाओ का कोई राष्ट्रीय मोर्चा नहीं बन सकता।

हम सब केवल बोलते हैं, लिखते हैं। जमीनी स्तर पर व्यापक और विशाल रूप में कुछ भी नहीं होता। इस लेख में लोकसभा में मौजूद जिन 41 दलों और उनके प्रमुखों का नामोल्लेख है, हमें यह जानना चाहिए कि लोकतन्त्र और संविधान-सम्बन्धी उनकी चिन्ताएँ और कार्य योजनाएँ क्या हैं?

अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हमारा मौलिक अधिकार है और हमें मौलिक अधिकारों से वंचित किया जा रहा है। पुरस्कार वापसी के नौ वर्ष बीत चुके। 2015 में देश की अनेक भाषाओं के कवियों, लेखकों, फिल्मकारों आदि ने साहित्य अकादमी का पुरस्कार वापस किया था। बौद्धिक समाज के इस सामूहिक पहल से सरकार को भी परेशानी हुई। यह सक्रिय नहीं, निष्क्रिय प्रतिरोध था, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। उस समय कलबुर्गी और अखलाक की हत्या से बौद्धिक समुदाय अधिक बेचैन और क्रोधित था। और आज? निश्चित रूप से 2015 के बाद स्थितियाँ कहीं अधिक खौफनाक हुई हैं, पर सामूहिक प्रतिरोध में कमी आयी है। लोकतन्त्र और संविधान को लेकर चिन्तित लोगों की कमी नहीं है। काफी कुछ लिखा जा रहा है, कहा जा रहा है, पर सत्ता को, सरकार को इससे अधिक मतलब नहीं है। हमारा समय नोटबन्दी से मुँहबन्दी तक का है। सवालों का जवाब नहीं दिया जा रहा है, शिकायतें अनसुनी की जा रही हैं। न्यायपालिका और कार्यपालिका की दूरी समाप्त हो रही है। जज हिन्दू धर्म राष्ट्र के पक्ष में और मुसलमानों के विरुद्ध बोल रहे हैं। भय चारों ओर व्याप्त है। ढाई हजार वर्ष पहले थ्यूसीदाइदस ने भय को लोकतन्त्र के लिए नुकसानदायक माना था, लोकतन्त्र में भय के लिए कोई स्थान नहीं माना था। सर संघ प्रमुख मोहन भागवत ने पिछले दिनों राम मन्दिर प्रतिष्ठा दिवस को भारत की सच्ची स्वतन्त्रता का दिन कहा है। उनके अनुसार 22 जनवरी, 2024 को देश को असली आजादी मिली है। प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने इस दिन को नये कालचक्र की शुरुआत कहा है–''यह कैलेण्डर पर लिखी तारीख नहीं, यह नये कालचक्र का उद्‌गम है''–

भारतीय लोकतन्त्र और भारतीय संविधान हिन्दू राष्ट्र के निर्माण की इजाजत नहीं देता। आज विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और प्रेस क्या सचमुच हिन्दू राष्ट्र के विरोधी हैं? राजनीतिक दलों के लिए सब कुछ चुनाव है, वे चुनाव के बाहर कुछ नहीं करते। भारतीय जनता का आह्वान नहीं करते। बेरोजगार युवकों के सामने उनका अपना भविष्य है। राजनीतिक दलों का ध्यान 2026 में 5 राज्यों- पश्चिम बंगाल, असम, पुडुचेरी, तमिलनाडु और केरल के चुनाव, 2027 में 6 राज्यों उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, गुजरात, पंजाब, गोवा और मणिपुर के चुनाव, 2028 में 10 राज्यों- हिमाचल प्रदेश, मेघालय, नगालैण्ड, त्रिपुरा, कर्नाटक, तेलंगाना, मध्य प्रदेश, मिजोरम, छत्तीसगढ़, राजस्थान के चुनावों और 2029 में लोकसभा चुनाव पर होगा। हकीकत यह है कि चुनाव में भाजपा से कोई जीत नहीं सकता। आज इण्डिया गठबन्धन की क्या हालत है? चुनाव आयोग ने अपनी स्वतन्त्रता, स्वायत्तता, निष्पक्षता समाप्त कर दी है। और न्यायपालिका? स्वतन्त्र न्यायपालिका ही भारतीय संविधान की रक्षा कर सकती है, उसे सँभाल सकती है, कायम रख सकती है। वह भारतीय संविधान की रक्षक है, 'गार्जियन' है। संविधान की वह अन्तिम व्याख्याकार भी है। न्यायपालिका पर लगातार सवाल उठ रहे हैं। सब की तफसील में इस लेख में जाना सम्भव नहीं है। राम मन्दिर पर, 370 पर सुप्रीम कोर्ट का फैसला न्यायसम्मत, विधिसम्मत नहीं था। न्यायपालिका में आस्था के लिए जगह नहीं है। दूसरी ओर अब चुनाव मखौल बनकर रह गया है। मतदाताओं की संख्या 20-25 दिनों के भीतर 80-85 लाख बढ़ जाती है। हिन्दुत्व की राजनीति लोकतन्त्र और संविधान विरोधी है। हिन्दुत्व की आँधी में फँसे और बहते लोगों, समुदायों, दलों को यह पता नहीं है कि वे कितना बड़ा नुकसान कर रहे हैं। प्रायः सभी प्रमुख पदों की गरिमा समाप्त कर दी गयी है। मुख्य चुनाव आयुक्त टी. एन. शेषन भी थे, पर राजीव कुमार ने अपने कार्यकाल में जो कार्य किये हैं, वे सब इतिहास के पन्नों में सुरक्षित रहेंगे। चुनाव आयोग ने विपक्ष की शिकायतें नहीं सुनीं। अब चुनाव आयुक्त की नियुक्ति सरकार कर रही है। इस स्थिति में सरकार के गलत कार्यों पर क्या चुनाव आयोग सवाल करेगा, आपत्ति दर्ज करेगा? तीन लोगों की कमिटी में पूर्व मुख्य न्यायाधीश चन्द्रचूड़ ने मुख्य न्यायाधीश के रहने की बात कही थी, पर सरकार ने कानून बनाकर चुनाव आयुक्त और मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति से मुख्य न्यायाधीश को बाहर कर दिया। फिर बच क्या जाता है?

अन्त में फिर वही सवाल! लोकतन्त्र और संविधान की चिन्ता किसे है? जिन्हें है, वे लिखने-बोलने के सिवाय और क्या कर रहे हैं? क्या इतने से ही लोकतन्त्र और संविधान की रक्षा हो जाएगी? अगर नहीं तो–''आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी''।

■

तीसरी घण्टी

जन्मशती पर लगा सत्ता का ग्रहण

राजेश कुमार

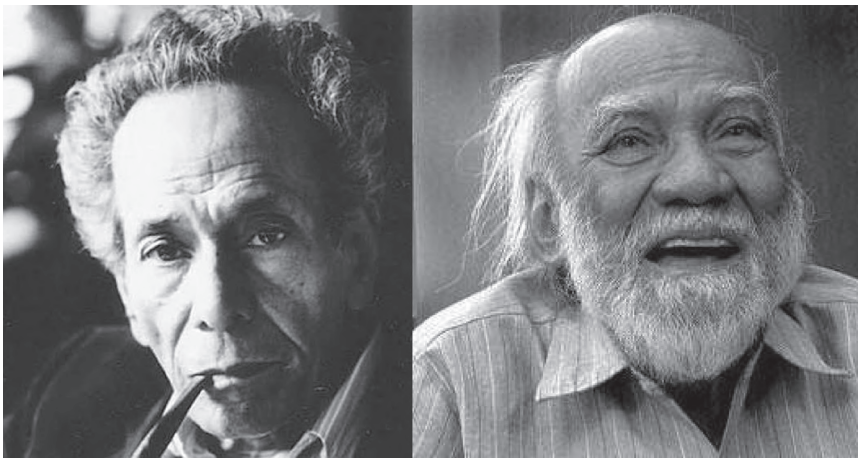

संस्कृति की दिशा में सत्ता की वैचारिकी अब किसी से छिपी नहीं है। संयोग से जिन लोगों की जन्मशती इस वर्ष या अगले वर्ष तक मनायी जानी है, उसमें कोई भी इनकी विचारधारा के समदृश्य नहीं है। देश के सबसे बड़े प्रकाश परिकल्पक तापस सेन को तो बंगाल के बाहर किसी ने याद भी नहीं किया। बंगाल में अलबत्ता उन पर जरूर गोष्ठियाँ हुई और उनके कार्यों को लोगों ने याद किया। फिर सवाल है बाहर क्यों नहीं याद किया गया?

लेखक भारतीय रंगमंच को संघर्ष के मोर्चे पर लाने वाले अभिनेता, निर्देशक और नाटककार हैं।
+919453737307
rajeshkr1101@gmail.com

वैसे तो हर साल किसी-न-किसी लेखक, राजनेता, चित्रकार व नाटककार-अभिनेता-निर्देशक की जन्मशती आती और जाती रहती है। लोग उनकी जन्मशती अपने-अपने स्तर पर मनाते रहते हैं। कई संस्थाएँ-साहित्यिक-सामाजिक संगठन भी किसी-न-किसी रूप में उन्हें याद करती रहती हैं। उनके किये गये कार्यों का मूल्यांकन करती हैं। इसमें वो संस्थान भी शामिल होते हैं जो सरकार द्वारा संचालित व उनके नियन्त्रण में होते हैं। ऐसे संस्थान अगर केन्द्र में होते हैं तो प्रान्त के अन्तर्गत वहाँ की राजधानियों में भी स्थित हैं। और सभी सरकारी विभागों की तरह कार्यरत हैं। प्रान्त में अगर विभिन्न कलाओं के अनुभाग वहाँ की संस्कृति विभाग के अन्तर्गत आते हैं तो साहित्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी, ललित कला अकादमी जैसे संस्थान मिनिस्ट्री ऑफ कल्चर के अन्तर्गत आते हैं। इनका काम होता है, इन अकादमियों से जुड़ी गतिविधियों का संवर्धन करें। कला-साहित्य-संस्कृति के आवश्यक कार्यक्रम करवाएँ और इनके विकास के लिए आवश्यक योजनाएँ समय-समय पर करवाकर इसके प्रति लोगों में जागरूकता उत्पन्न करें ताकि कलाओं का विकास हो, कला जन-जन तक जाये। इस तरह के कार्य इनकी दिनचर्या में भी है। जो निर्धारित हैं उसे ये लोग करते भी हैं। जैसे पुरस्कार देना, सेमिनार आयोजित करना या समय-समय पर प्रदर्शनी-पुस्तक मेला-जैसे कार्यक्रम कराना।

लेकिन अब देखा जा रहा है, वे काफी सतर्क हो गये हैं। अब किसी को सम्मानित करना या किसी पर विशेष कार्यक्रम करना, संस्थान या अकादमी की स्वायत्ता के अन्तर्गत नहीं है। इस मामले में अब वे इतने स्वतन्त्र नहीं हैं, जितना पूर्व में थे। अब किसी संस्था या अकादमी के बस का नहीं है। इन पर नकेल है, जिसकी डोर किसी और के हाथ में है। जिनके हाथ में नकेल है, वे सत्ता से सीधे जुड़े होते हैं। सत्ता से जैसा आदेश प्राप्त होता है, उसका वे अन्धतापूर्वक अनुपालन करते हैं। अगर ऊपर से आदेश नहीं आता है तो वे समझ जाते हैं कि इस मौन का क्या मतलब है? इस चुप्पी का क्या रहस्य है?

इस चुप्पी को जो लोग डिकोड करते हैं, वे गलत नहीं होते हैं। उनके अनुमान का ठोस आधार होता है। अगर किसी की जन्मशती चल रही है तो ऐसा नहीं है कि वे नहीं जानते हैं। सब जानते हैं। वे ये भी जानते हैं कि अगर इग्नोर किया जा रहा है तो उसका आधार क्या है?

सन् 24 का साल ऐसा सुखद है कि इस बार नाटक की दुनिया के कई श्रेष्ठ लोगों की जन्मशती है। अमूमन जिस वर्ष उनका जन्म हुआ होता है, उसके एक वर्ष पूर्व से ही जन्मशती मनाया जाना प्रारम्भ हो जाता है।

जन्मशती मनाने का यह मतलब नहीं होता है कि प्रायः लोग जैसा जन्मदिन सेलिब्रेट करते हैं उसी पैटर्न पर जन्मशती भी मना लिया जाये। ऐसा होता भी नहीं है। होता यह है कि जिस विभूति की जन्मशती मनायी जाती है, इस बहाने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर साल-भर कुछ-न-कुछ बात की जाती है। उन्होंने किस तरह कार्य किया, समाज को क्या दिया, आज भी वे किस तरह लोगों से जुड़े हैं, इसकी केवल चर्चा ही नहीं करते हैं बल्कि उसका विश्लेषण कर उनकी समसामयिकता पर प्रकाश भी डालते हैं। नाटककार-निर्देशक हबीब तनवीर का जन्मदिन 1 सितम्बर, 1923 और प्रकाश परिकल्पक तापस सेन का जन्म 11 सितम्बर, 1924 है। और 'तीसरे रंगमंच' के सिद्धान्तकार-नाटककार-निर्देशक बादल सरकार का जन्म 15 जुलाई, 1925 और आधुनिक रंगमंच के सबसे बड़े निर्देशक इब्राहिम अलकाजी का 18 अक्टूबर, 1925 का है। तारीख के अनुसार तो हबीब तनवीर और तापस सेन की जनशती तो पिछले साल 23-24 में पूरी हो गयी। बादल सरकार और इब्राहिम अलकाजी का इस साल से शुरू हो गया है जो आगामी साल के जुलाई और अक्टूबर को पूर्ण हो जाएगा। हालाँकि जन्मशती मनाने के लिए ऐसी कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं है, न कठोरता से इस पर कोई पाबन्दी है। जिनको याद करना है, जिन पर कुछ बात करने की जरूरत अगर समझें तो जन्मशती के बाद भी मनाया जा सकता है। लेकिन जन्मशती के दौरान उनके प्रति कोई उदासी देखते हैं तो इस उदासी का कोई कारण तो होगा। यूँही कोई किसी के प्रति उदास तो नहीं होता है।

अगर हबीब तनवीर की जन्मशती को मनाने की बात करें तो देखने की जरूरत यह है कि उनकी जन्मशती किस तरह मनायी गयी या किन लोगों ने मनायी, इस पर गौर फरमाने की आवश्यकता है। इस बात की भी जानकारी लेने की जरूरत है कि मनाने वाले कौन हैं, उनका वर्ग क्या है, वे किस विचारधारा को मानने वाले हैं? और जिन्होंने नहीं मनाया या जिन्हें मनाना चाहिए, आखिर उनके न मनाने की क्या वजह थी? क्या कोई दवाब था या कोई वैचारिक असहमति थी?

हबीब तनवीर किसी सत्ता के आदमी नहीं थे। वे किसी राजनीतिक पार्टी से सीधे नहीं जुड़े थे, न उनके लिए प्रॉपगैण्डा करते थे। अलबत्ता वे रंगमंच में राजनीति के पक्षधर जरूर थे। उन्होंने अपने नाटकों को कभी राजनीति से काटकर नहीं रखा। जब भी किसी राजनीतिक मुद्दों पर हस्तक्षेप करने की जरूरत महसूस की, बेतकल्लुफ होकर किया। बाबरी मस्जिद के टूटने के बाद जिस तरह देश में साम्प्रदायिकता को राजनीतिक पार्टियों द्वारा हवा दी गयी, धर्म को राजनीति से जोड़कर सत्ता तक पहुँचने का निर्लज्ज प्रयास किया गया, हबीब तनवीर ने अपने नाटकों के माध्यम से तीव्र आलोचना की। वे कट्टर धार्मिक संघटनों के सम्मुख कभी नहीं झुके। उन्होंने गाँव-गाँव, शहर-शहर घूम-घूम कर साम्प्रदायिकता और ब्राह्मणवाद विरोधी नाटक किये। विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने इनके मंचनों पर हमले भी किये, लेकिन जब तक हबीब तनवीर जीवित रहे, ऐसे लोगों का विरोध करते रहे। शायद उनकी इसी प्रतिरोध की प्रवृत्ति के कारण सत्ता-वर्ग में जन्मशती मनाने के प्रति कोई रुचि उत्पन्न करने नहीं दिया। भले मौखिक रूप से इस तरह की कोई प्रतिक्रिया सुनने को न मिली हो, लेकिन सत्ता की अकादमियों और नाटक संस्थानों ने उनके प्रति जो तटस्थता बनायी, उससे उनकी मंशा तो स्पष्ट हो ही जाती है। इसलिए पूरे वर्ष इस हलके में हबीब तनवीर को लेकर कोई सुगबुगाहट सुनाई नहीं दी। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, बी.एन.ए., एम.पी.एस.डी. से लेकर प्रान्त और केन्द्र के संगीत नाटक अकादमियों में कहीं कोई कार्यक्रम सम्पन्न न हुए। हुए भी तो छोटे-छोटे शहरों में। वहाँ की रंग संस्थाओं द्वारा किसी-न-किसी रूप में उन्हें याद किया गया। इस दिशा में रजा फाउण्डेशन की भूमिका उल्लेखनीय है। उन्होंने भोपाल, दिल्ली में जो विचार गोष्ठियाँ कीं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। कोलकाता में भी एक बड़ा आयोजन किया गया जिसमें थिएटर के जाने-माने निर्देशकों और नाटककारों ने भाग लिया था। अस्मिता थिएटर ग्रुप द्वारा त्रिवेणी कला संगम, दिल्ली के प्रेक्षागृह में 'कारवाँ-ए-हबीब' कार्यक्रम के बहाने उनको याद किया गया जिसमें देवेन्द्र राज अंकुर, अशोक वाजपेयी, अरबिन्द गौड़ और प्रसन्ना ने सारगर्भित व्याख्यान दिया था। अशोक वाजपेयी ने तो सत्ता को सीधे टारगेट करते हुए कहा कि अब संस्कृति के क्षेत्र में भी साम्प्रदायिक सोच प्रवेश कर गया है, वे इतने संकीर्ण हो गये हैं कि किसी के जन्मशती मनाने के पीछे वे धर्म और मजहब ढूँढ़ने लगे हैं। उसी के आधार पर निर्धारित करते हैं कि किसकी जन्मशती मनानी है या चुप्पी साध लेनी है।

देश के सबसे बड़े प्रकाश परिकल्पक तापस सेन को तो बंगाल के बाहर किसी ने याद भी नहीं किया। तापस सेन केवल बंगाल के नहीं थे। वे केवल बंगाली नहीं थे। उनका तो जन्म दिल्ली में हुआ, पूरी पढ़ाई यहीं हुई। नाटक में प्रकाश परिकल्पना व संयोजन अभी भी बिजली मिस्त्री का काम समझा जाता है। इस उपेक्षित कार्य को तापस सेन ने नाटक के केन्द्र में लाकर रख दिया था। बताया कि प्रकाश भी नाटक का एक प्रमुख भाग है, इसे नजरअन्दाज करना नाट्य कला के हित में नहीं है। जितना महत्त्वपूर्ण नाटक में अभिनय है, उतना ही वह प्रकाश जिसमें नाटक खेला जाना है, पात्रों को समुचित प्रकाश से आलोकित किया जाना है, उनके भावों को दर्शकों तक उचित ढंग से सम्प्रेषित करना है। लेकिन आजकल कला कौन देखता है? सत्ता की नजर उसकी विचारधारा पर होती है। अगर उसे उसकी विचारधारा साम्य नहीं दिखती है तो वह उनके किसी काम का नहीं होता है। हबीब तनवीर हो या तापस सेन, इनके कला की पक्षधारिता हमेशा से शोषित-पीड़ित-हाशिये के समाज के साथ रही है। हमेशा से ये उत्पीड़ितों के पक्ष में रहे। जरूरत पड़ने पर सत्ता के विरुद्ध भी खड़े हुए। सम्भवतः उनका यह पक्ष वर्तमान निजाम को भाया नहीं होगा। बल्कि सत्ता की जो वैचारिकी है, उसके विपरीत लगा होगा। यह एक प्रमुख कारण होगा जिसकी वजह से जन्मशती पर जो सम्मान मिलना चाहिए था, नहीं मिला। ऐसा नहीं कि जन्मशती मनाने की वर्तमान सत्ता के यहाँ कोई परम्परा नहीं है। इनके जो नायक होते हैं, उन्हें प्रतिष्ठापित

करने का ये कोई मौका नहीं छोड़ते हैं। पिछले वर्ष आजादी का अमृत महोत्सव मनाने के बहाने इन्होंने अपनी विचारधारा से जुड़े लोगों को महिमा मण्डित करने का कोई कसर नहीं छोड़ी। बल्कि उत्साह में आकर आजादी की लड़ाई के गुमनाम नायकों को हिन्दुवादी अमलीजामा पहनाकर भगवा रंग में रँगने से बाज नहीं आये।

लेकिन हमारा समाज इतना कृतघ्न नहीं है। हैं कुछ लोग जो यादों को बिसरने नहीं देते। दिया जलाकर रास्ता दिखाने का काम करते हैं। एन.एस.डी. के अल्युमनी की एक रंग संस्था है, उन्होंने 21 और 22 दिसम्बर को प्रभा खेतान फाउण्डेशन और साहित्य अकादमी के सहयोग से दो दिनों का राष्ट्रीय सेमिनार का आयोजन रवीन्द्र भवन के साहित्य अकादमी के हॉल में किया। 21 तारीख को हबीब तनवीर और बादल सरकार पर चर्चा हुई। हबीब तनवीर पर मोहम्मद फारूकी और ब्रह्म प्रकाश ने अपना अभिमत रखा। मोहम्मद फारूकी ने हबीब तनवीर की जीवन-यात्रा से परिचय कराया तो ब्रह्म प्रकाश ने उस पक्ष को सामने लाया जो अभी भी सामने नहीं आ सका है। या उस पहलू को सामने लाने से कन्नी काटते हैं। उनका कहना था कि हबीब तनवीर ने आधुनिक रंगमंच को लोक से जोड़ कर ब्राह्मणवादी ढाँचे से जो बाहर लाया, वह रंगमंच को वर्गहीन तो करता ही है उसे वर्णहीन भी करता है। बादल सरकार पर एम.के. रैना ने आपातकाल के दौरान किये गये जुलूस और भोमा की तैयारी और किये गये मंचनों का दर्शकों पर पड़ते प्रभाव पर प्रकाश डाला। तो अमिताभ श्रीवास्तव ने बादल सरकार के 'तीसरा रंगमंच' के सैद्धान्तिकी का विश्लेषण किया। वर्तमान में इसकी क्या सम्भावना हो सकती है, इस पर भी सकारात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला। दूसरे दिन का सत्र तापस सेन और इब्राहिम अलकाजी पर केन्द्रित था। इसके स्पीकर गौतम भट्टाचार्य और स्नेहांशु मुखर्जी थे। दोनों स्पीकरों ने यही बताने का प्रयास किया कि तापस सेन आजीवन जीवन और जगत के नाना रहस्यों के प्रति अनन्य जिज्ञासु भाव से भरे रहे और मंच व महाकाश की आलोक रश्मियों को समझने का प्रयास करते रहे। उनकी प्रस्तुतियों में आलोक का रहस्य उद्घाटित होता है। वे नितान्त निर्वैयक्तिक और निर्मोही ढंग से प्रकाश कणिका का निरपेक्ष संचरण सम्भव बनाते थे। और इस तरह दिविध चल से चलते हुए, उनकी सत्ता के साथ घुल-मिलकर जो रचना बनती थी, उसमें एक वृत्त पूरा होता था, जो जीवन का ही नामान्तरण है।

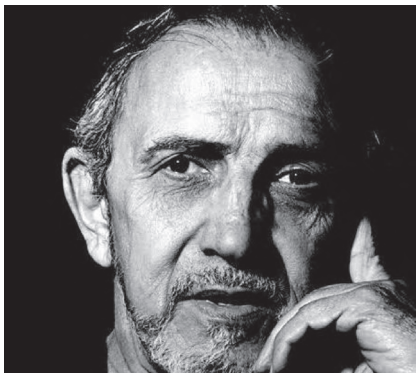

इब्राहिम अलकाजी (1925 - 2020)

अन्तिम सत्र इब्राहिम अलकाजी पर था। इस सत्र का सुखद पहलू यह था कि इसमें दर्शकों की सराहनीय उपस्थिति थी। हॉल भरा हुआ था। अन्यथा पूर्व के सत्र में दर्शकों की कमतर संख्या निराशा उत्पन्न कर रही थी। मण्डी हाउस जहाँ एन.एस.डी. है, श्रीराम सेण्टर जैसी कई संस्थाएँ हैं... जहाँ दिन-भर रंगकर्मियों का हुजूम लगा रहता है वहाँ इन महान रंगकर्मियों के जन्मशती के मौके पर इतनी कम उपस्थिति चिन्ता का सबब तो उत्पन्न करता ही है। अमाल अल्लाना ने अपने पिता इब्राहिम अलकाजी पर लिखी किताब के कुछ अंश का पाठ किया तो अनुराधा कपूर ने अपना अभिभाषण उनकी प्रतिबद्धता पर फोकस किया। आजादी के बाद इब्राहिम अलकाजी ने जिस तरह का रंगमंच किया, वह क्यों जरूरी था, इस पर विस्तार से प्रकाश डाला।

इस सेमिनार के आमन्त्रण-पत्र पर साहित्य अकादमी का भी नाम था। लेकिन इस आयोजन से उनकी दूरी इतनी ही थी जितना कि किसी ब्राह्मण का किसी अछूत से होता है। कहीं से भी साहित्य अकादमी की अन्तरंगता नहीं दिखाई दे रही थी। कहीं से भी उनकी कोई सहभागिता नहीं दिख रही थी। उन्होंने इस कार्यक्रम हेतु हॉल मुहैय्या करा दिया था, शायद इतना तक ही अपनी जिम्मेदारी समझती हो। जबकि रवीन्द्र भवन के प्रांगण में आये दिन बड़े-बड़े वृहद् कार्यक्रम होते हैं, उनकी भव्यता भी देखने योग्य होती है। पिछले दिनों दीनदयाल उपाध्याय, अटल बिहारी वाजपेयी और श्यामा प्रसाद मुखर्जी पर देश-भर में योजना के तहत बड़े स्तर पर कार्यक्रम हुए। शायद इस कारण से कि ये सत्ता की वैचारिकी को सबल कर रहे थे। उनकी विचार के सहयात्री थे।

लेकिन हबीब तनवीर, बादल सरकार, तापस सेन और इब्राहिम अलकाजी को इसलिए नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता कि वे सत्ता की विचारधारा के अनुरूप नहीं थे। उन्होंने रंगमंच के लिए जो भी किया, इस पर कि कोई भी गर्व कर सकता है। देश आजाद होने के बाद इब्राहिम अलकाजी ने भारतीय रंगमंच को विश्व-स्तर पर एक नयी पहचान दी। आजादी के पूर्व हमारा रंगमंच जो औपनिवेशिक रंगमंच था, उसे इब्राहिम अलकाजी ने आधुनिक रूप देकर समृद्ध और सम्पन्न बनाया। अगर उन्होंने कथ्य के रूप में उदार, खुलापन लाया तो रूप के स्तर पर नये-नये प्रयोग किये। उनका आधुनिक रंगमंच कहीं से विचार में संकीर्ण नहीं था, न परम्परा के नाम पर अन्ध विश्वास-कठमुल्लापन का संकट। सम्भवतः तत्कालीन राजनीति का भी उन पर असर हो।

जो लोग हबीब तनवीर, बादल सरकार, तापस सेन और इब्राहिम अलकाजी को किसी सत्ता या किसी विचारधारा से जोड़कर उनकी जन्मशती को भूलना चाहते हैं तो उन्हें याद रखना चाहिए... जो जनता के लिए काम करते हैं, वे जनता के दिलों में रहते हैं। उसे कोई इग्नोर करना चाहे, तो भी इग्नोर नहीं किये जा सकते। इसलिए कि ये जमीन से निकले हुए हैं, इसी आग में तपे हुए हैं...

दरअसल ये फीनिक्स चिड़िया हैं। जल कर जमीन पर गिरेंगी। फिर पैदा हो जाएँगी। ये जिन्दा रहते हैं। जहाँ इनको मिट्टी... हवा... पानी मिलती है... फिर से खिल जाते हैं...

इन पर कोई ग्रहण नहीं लग सकता। न अर्द्ध... न पूर्ण ग्रहण।

■

कविता में बस्तर

जय प्रकाश

दुनिया के लिए बस्तर एक अजूबा रहा है—सभ्यता से दूर, बेहद पिछड़ा हुआ आदिवासी इलाका। पश्चिमी बुद्धिजीवियों और औपनिवेशिक मानवशास्त्र की दृष्टि में ही नहीं, स्वयं देसी निगाह में बस्तर आज भी एक अजीब आकर्षण की जगह है। बस्तर के बारे में इतर समाज की धारणाएँ वास्तविकता से अधिक परिकल्पित, प्रायः फैण्टेसियों के रूप में हैं। बस्तर से अपरिचय के चलते, पश्चिम को अपनी जीवन-शैली और सांस्कृतिक मान्यताओं से भिन्न यहाँ का जन और जीवन विचित्र तमाशे की तरह लगता रहा है।

लेखक हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक हैं।
+919981064205
jaiprakash.shabdsetu@gmail.com

भारत में आदिवासी जीवन-पद्धति को लेकर उदग्र उत्सुकता रही है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में बरसों तक बस्तर पर, विशेषतः घोटुल को लेकर, विपुल सामग्री प्रकाशित होती रही। नेहरू-एल्विन नीति और जनजाति आयोग की रिपोर्ट के बाद बस्तर के विकास को लेकर अनेक प्रयास स्वतन्त्र भारत की राजसत्ता द्वारा किये गये, लेकिन आदिवासियों की स्वायत्तता पर वे अनचाही दखलन्दाजी साबित हुए। बस्तर भी विकास की दौड़ में खींच लाया गया था। नतीजे में बस्तर भी तेजी से बदल रहा है–इस अर्थ में कि शोषण और उसके प्रतिरोध के नये रूपाकार यहाँ उभर रहे हैं। आदिवासी-जीवन एक भीषण संक्रान्ति में है। नक्सलवादी हिंसा और राज्य-प्रायोजित दमन के बीच जनजीवन पिस रहा है। आधुनिक राज्यसत्ता पश्चिमी उपनिवेशवादियों के सिविलाइजिंग मिशन को ही आगे बढ़ा रही है। व्यापार और उद्योग का तन्त्र विकसित कर उसे कथित 'मुख्यधारा' में लाने का पवित्र अभियान जारी है।

हिन्दी कविता इन बदलावों से उदासीन नहीं है। उन्हें देखने-परखने और समय की गति के बीच मनुष्य की नियति की पहचान का प्रयत्न करती है। याद आता है, वर्षों पहले कवि नागार्जुन बस्तर आये थे। उन्होंने 'शालवनों के निविड़ टापू में' कविता लिखी थी जो आदिवासी संस्कृति के प्रदर्शनीय वस्तु में बदल जाने की नियति पर मार्मिक टिप्पणी के साथ नेहरू-एल्विन नीति की विडम्बनाओं को प्रश्नांकित करती है। विनोद कुमार शुक्ल ने भी बस्तर पर कविताएँ लिखी थीं जो आदिवासी जीवन में मनुष्य, प्रकृति और वन्यजीव के बीच सम्बन्धों में एकात्मता और कथित सभ्य समाज के घातक हस्तक्षेप को रेखांकित करती हैं। उनकी तीन कविताओं–'जंगल के दिन-भर के सन्नाटे में', महुआ बीनते-बीनते, और 'बाजार का दिन है' में आदिवासी-जीवन की सरलता, सामुदायिकता, प्रकृति से तादात्म्य एक अपूर्व सांगीतिक लय में अवस्थित हैं। इसमें उन्होंने सन्ध्याकाल में पेड़ से महुआ झरकर धरती पर फैल जाने और तारों के टपककर आकाश भर देने के दृश्य को अद्भुत संवेदनात्मकता में पकड़ा है। आदिवासी जीवन में वन्य जीव और मनुष्य के बीच नैसर्गिक रिश्ते का सौन्दर्य है जो अन्यथा हमारे नागरिक-बोध से ओझल है और जिसे हम विस्फारित विस्मय से देखते हैं। हमारे नागरिक-बोध और आदिवासी चेतना के बीच गहरा अन्तराल है जो एक्जॉटिसिज्म का विस्मय जगाता है। विनोद कुमार शुक्ल समकालीन आदिवासी समाज में शोषक शक्तियों की मौजूदगी को एक सरल जीवन-बिम्ब के जरिये प्रकट करते हैं– *''एक अकेली आदिवासी लड़की को/ घने जंगल जाते हुए डर नहीं लगता/ बाघ-शेर से डर नहीं लगता/ पर महुआ लेकर गीदम के बाजार जाने से/ डर लगता है।''* नागार्जुन और विनोद कुमार शुक्ल ने बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बस्तर पर जब कविताएँ लिखी थीं, तब आदिवासी-जीवन की स्वायत्तता पर हस्तक्षेप करने वाली बाहरी शक्तियों की पहुँच सीमित थी। लेकिन उन्होंने उसकी गति और विसंगति को पकड़ा था।

इधर हिन्दी-प्रदेश के दो दूरस्थ केन्द्रों, छोटा नागपुर और बस्तर से नयी काव्य-संवेदना की आमद पिछले दो दशकों की कविता के लिए नयी घटना है। छोटा नागपुर, झारखण्ड से आदिवासी कवियों की नयी पीढ़ी आयी है। लेकिन बस्तर की हिन्दी कविता वहाँ के जीवन का सीधा साक्षात्कार करने वाले गैर-आदिवासी कवि लिख रहे हैं। शायद इन कवियों की गैर-आदिवासी पृष्ठभूमि होने की वजह से उनकी कविता में झारखण्ड-छोटा नागपुर की कविता की तरह 'आदिवासी कविता' होने का मुखर आग्रह नहीं करती। बस्तर की हिन्दी कविता प्रेक्षक भाव की कविता है जबकि छोटा नागपुर के कवियों में भोक्ता भाव है। वे वास्तविकता से सीधी मुठभेड़ में हैं। भोक्ता की धुरी से लिखी गयी उनकी कविता स्वभावतः उसे अस्मितावाद के घेरे में खींचने का यत्न करती है। लेकिन दलित कविता की तरह अस्मिता का दुराग्रह उसे संचालित नहीं करता। उसमें न्याय

की माँग और प्रतिवाद की जीवन्त भंगिमा है। वह जल, जंगल, जमीन के संघर्ष की कविता है। उसमें पीड़ित समुदाय की चीत्कार है। वह स्वानुभूति और सहानुभूति की बहस में भी नहीं है जो दलित कविता का वैशिष्ट्य है। बस्तर का कवि भी संवेदित है लेकिन वह प्रेक्षक है। प्रेक्षक भाव उसकी संवेदना की तीव्रता को सहानुभूति में सीमित कर देता है।

बस्तर के लोक-जीवन को बस्तर में जन्मे कवियों, विजयसिंह और निरंजन महावर ने बीती सदी के अन्तिम दशकों में कविता में ढालने का प्रयत्न किया। उसके समानान्तर माँझी अनन्त ने दक्षिण बस्तर में बिताये कुछ वर्षों के अनुभव को अपनी कविताओं में रचा। माँझी अनन्त की कविता में बस्तर के सांस्कृतिक जीवन की झलकियाँ हैं। उन्होंने रोजमर्रा की वस्तुओं के इर्द-गिर्द लोक-सौन्दर्य के नैसर्गिक संसार की लय को, उसके मार्दव और वैभव को, उसकी सादगी और सहजता में पिरोया है। उनके यहाँ बस्तर का कठोर यथार्थ नहीं है, लेकिन उसका समूचा लोकवृत्त अपने माधुर्य और अकृत्रिमता के साथ छविमान है। टँगिया, तुम्बा, ढोल, मुर्गा, लँगोट, आग, मचान, लकड़हारा, पाठशाला, घोंटुल आदि माँझी की कविताओं के कुछ शीर्षक हैं जिनसे उनकी कविता के वस्तु-संसार का अनुमान लगाया जा सकता है। ये वे वस्तुएँ हैं जिनके बिना आदिवासी जीवन की कल्पना सम्भव नहीं है। इन कविताओं में चित्रित अनुभव दरअसल प्रकृति और मनुष्य के बीच मैत्री से उत्पन्न सन्तुलन और सामंजस्य की तलाश में रूपाकार धारण करता है। आदिवासी जीवन-शैली, रीति-रिवाज, लोकाचार, परम्परा और उसके सौन्दर्यलोक से बना एक अनगढ़-अकृत्रिम किन्तु सुरम्य यथार्थ माझी अनन्त की कविता को फोकलोर की नृतात्त्विक वास्तविकता के करीब ले जाता है। 1985 के आस-पास 'साक्षात्कार' में प्रकाशित उनकी कविताओं ने ध्यान खींचा था। इन कविताओं में पूर्ववर्ती हिन्दी कविता की छाया नहीं थी। वे लगभग अछूते इलाके के दृश्य प्रस्तुत करती थीं। इसलिए उनके द्वारा निर्मित बस्तर की लोकछवि में टटकापन और काव्यात्मक स्फूर्ति थी। हिन्दी पत्रकारिता द्वारा आदिवासी जीवन में ताक-झाँक (घोटुल में युवाओं के सहजीवन को लेकर अपार जिज्ञासा और उसके चटखारे को याद करें) से बनी बस्तर की अजूबा छवियों से भिन्न यह निश्छल-निर्दोष और आत्मलीन बस्तर की उजली-मार्मिक छवि थी। उसके समानान्तर उन्हीं दिनों हिन्दी कविता में लोकसंवेदना की लहर आ रही थी। माँझी अनन्त की मनोभूमि में इसी लोक-संवेदना की आर्द्रता थी। उनकी बस्तर-केन्द्रित कविता को हिन्दी कविता की उन दिनों उभर रही लोक-संवेदना का जनजातीय संस्करण कहा जा सकता है। माँझी अनन्त की कविता सभ्यता-संक्रमण से अछूते-अनाविल जीवन की निष्पंक कविता है।

हमारे उठने से पहले/ उठ जाता है तुम्बा/ खँगालते हुए रात का पानी/ कहते हुए–''चल उठ, काम पर/ नहीं जाना है''/ हमने जब भी रखा है तुम्बा/ कभी काँधे पर कभी हथेली में/ कभी गले में गलहार की तरह/ उसकी/ मुस्कुराहट झलकी है/ चापड़ा की चटक सोंधी गन्ध/ और कुनकुने पेज में।

हमने जब भी हलक से नीचे उतारी है/ जिन्दगी, ताड़ी, सल्फी, लन्दा/ जब भी बीना है महुआ, तेन्दू/ तोड़ा है पत्ता/ काटा है बाँस/ निकाला है चार और चिरौंजी/ तुम्बे ने एक मित्र की तरह/ हर बार थपथपायी है हमारी पीठ।

विजयसिंह की आरम्भिक कविताओं में आदिवासी जीवन की लगभग ऐसी ही रम्य-सुघर छवियाँ हैं। उनकी 'छानी में तोरई फूल' कविता में एक आदिवासी लखमू की बाड़ी में जोंधरा, मुनगा, पपीता के फूल खिलने के साथ झोपड़ी में मड़िया, पेज, पसिया पकने, छप्पर पर तोरई फूल खिलने और उस पर बैठी नानी चिरई के हँसने के दृश्य के साथ अन्त में काव्यानुभव का समाहार है– *'इस तरह/ खिलेगा गाँव में/ एक और सुन्दर दिन'।* विजयसिंह की 'रगारग रंग की तरह', 'तिरिया जंगल', 'रोज छूता हूँ जंगल', 'जंगल की हँसी', 'नोनी की हँसी' आदि कविताओं में बस्तर के सुखद लोकबिम्ब हैं। अपनी लयगति में वनजीवन का वैभव और बस्तर का समूचा लोकवृत्त उनके यहाँ स्पन्दित है। उनकी 'बस्तर' शीर्षक कविता आश्वस्ति-भरे, निर्द्वन्द्व और प्रशान्त लोक-संसार को स्वायत्त करती है जिसमें न आधुनिकता की आहट है, न ही जीवन की स्वायत्त लय को भंग करने वाली शक्तियों की अवांछित उपस्थिति। यह बस्तर की स्वकेन्द्रित, आत्मलीन और अक्षत लोकछवि है– *यहाँ जंगल काँधे पर है/ और खेत की मिट्टी पाँवों में/ ताम्बिया शरीर को छूकर बहती है नदी, पेड़ों में बैठकर सुस्ताता है आसमान यहाँ/ हरियाते दिन में आता है टँगिया/ मंगल के गमछे में खिलता है/ पसीने का फूल/ सल्फी के नशे में नाचता है जंगल/ डोंगरी में खिलखिलाती हैं लेकियाँ/ पिला, डोकरे और डोकरियाँ/ यहाँ आप साँस ले सकते हैं/ बतिया सकते हैं जंगल से।*

जाहिर है, यह बस्तर की प्रागाधुनिक छवि है। उनका वस्तु-संसार एक तरह के रूमान के घेरे में अपनी सीमाओं को सहेजने का यत्न करता है। यह प्रागाधुनिक का रूमान है। प्रागाधुनिक बस्तर की रूमानी छवि आदिवासी जीवन की स्वयंपूर्णता और स्वयंपर्याप्तता से उपजी है जिस पर औपनिवेशिक आधिपत्य की स्याह छाया नहीं पड़ी है; न ही उत्तर-पूँजी के क्रूर पंजे उस पर पड़े हैं। इसमें चित्रित जीवन-दृश्य भी प्रागाधुनिक है। विजयसिंह की काव्यभाषा में अभिधा की तथ्यपरकता लोकलय को एक तरह से स्वच्छन्द गति देती है। तथ्य इस कविता में प्रवाहलीन हैं। वे महज तथ्य या सूचना नहीं रह जाते; काव्यात्मक राग में गुँथ जाते हैं। यह रागात्मकता और सहृदयता रूमान का उज्ज्वल पक्ष है। बस्तर की कुछ ऐसी ही रागात्मक छवि त्रिलोक महावर की कविता में भी है–

पहाड़ों पर/ धुआँ-धुआँ/ धूनी रमाये/ जोगन-सी/ बैठी है शाम/ कहीं महुआ/ कहीं कुड़ई, कुन्द, झुईं/ तो कहीं अमराई की महक/ खुद-ब-खुद/ इत्र की मंजूषा है/ शाम/ फिर उतरी है घाटी में।

त्रिलोक महावर ने कविता में चाक्षुष तत्त्व का कुशलता से प्रयोग किया है। चाक्षुष अनुभव को कल्पना लय में गूँथने से दृश्यानुभूति की एकतान संगति निर्मित हुई है। इस तरह एक सौष्ठवपूर्ण दृश्य-संरचना में उसे तब्दील कर काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा दिखाई देती है। यहाँ कवि का दर्शक भाव मुखर है–

सीढ़ी-दर-सीढ़ी दर्द भरता है जंगल में/ तीर्थगढ़ के प्रपात में/ पानी बूँदों में बिखर-बिखर झरता है दर्द/ और पानी अजीब समानता है/ दोनों में बहते हैं तो रुकते नहीं/ समझाने पर भी/ शाम को दूर कहीं/ माँदर पर पड़ती हैं थापें/ टूटे मन्दिर में बूढ़ा-सा पुजारी/ बजाता है घण्टियाँ/ तब मन को छू लेनेवाला गीत/ गूँजता

है वादियों में/ रात में जंगल ओढ़ लेता है/ धुन्ध की चादर/ दर्द पहले की तरह झरता है।

यही दर्शक भाव संजीव बख्शी की कविताओं में भी है। उनकी कविताओं में ऊँघते-अनमने और अपने ही भीतर दुबककर जी रहे बस्तर के सुपरिचित दृश्य। इनमें लोग हैं, लेकिन अपनी ही दुनिया में डूबे हुए, बल्कि अपने-आपसे अनजान। एक नजर में उनका बस्तर निश्छल-निर्लिप्त और बेहद वेध्य जान पड़ता है। उसकी मासूमियत विचलित करती है। हिन्दी कविता के लिए बस्तर की मासूमियत खासी काव्योपयोगी है। बस्तर पर एकाग्र बहुत-सी कविताओं में उसकी मासूमियत और सादगी के शब्दचित्र उकेरने के प्रयत्न किये गये–

बैठी हैं महिलाएँ एक मण्डप के नीचे/ सुस्ता रही हैं/ बतिया रही हैं/ बैठे हैं पुरुष भी/ युवा लड़के, लड़कियाँ/ हल्बी में जाने क्या-क्या बातें कर रहे हैं।/ कोई बोलता है/ बोलता क्या है ठिठोली करता है और/ सब ठठ्ठा लगा कर हँसते हैं, खिलखिलाते हैं/ बात बहुत हँसी की न हो/ फिर भी लगता है जैसे/ ढेर सारी हँसी भरी है इनके भीतर/ सबके चेहरे पर खुशी है/ यही हाट का चेहरा है।

लेकिन विजयसिंह, त्रिलोक महावर और संजीव बख्शी की कविता में बस्तर की मनोरम छवि के इर्द-गिर्द निर्मित अपने ही रूमान को भेदकर उसके खदबदाते बेचैन बिम्ब भी जाग उठते हैं। इनमें जंगल की अर्थव्यंजक चुप्पी है। यह असामान्य चुप्पी है। बस्तर के निर्मम-निर्बाध दमन और उसकी निस्सहाय बेबसी की कथा इसमें मुखरित है। इस चुप्पी की व्यंजकता को खोलने की कोशिश करें तो बस्तर की वनसम्पदा, नदी-पहाड़-आकाश, उसके समूचे पर्यावरण और अर्थप्रणाली, संस्कृति, सौन्दर्य और स्वतन्त्रता पर कब्जा कर चुकी शक्तियों की अतिक्रामक और आतंककारी उपस्थिति यहाँ दिखाई देती है– *''पेड़ चुप/ पत्थर पगडण्डी चुप/ नदी चुप चिड़िया चुप/ खेत चुप/ सोमारू चुप/ आसमान देख रहा है/ धरती में सब चुप''* (विजयसिंह)। विजयसिंह की 'जगरगुंडा में एक दिन' कविता इस चुप्पी का प्रतिरोध नक्सल आतंक की आहट में करती है। त्रिलोक महावर की कविता में एक भोले आदिवासी हिड़मा का जिक्र है जो ग्रीन गोल्ड का मतलब नहीं जानता और अपने सागौन वृक्ष बेच देता है। 'आमने सामने' कविता में बस्तर की ख्यात मुर्गा लड़ाई का वर्णन है लेकिन मुर्गा लड़ाई एक रूपक है, जो कौतुक में बस्तर को ताकने वाली तमाशबीन निगाहों की सच्चाई उधेड़ता है। उनकी कविता में इन्द्रावती नदी रोती है, संगीनों के बल पर माँ की गोद से बिछड़े बच्चों की तरह धरती से उजड़ते जंगल हैं, सौन्दर्य बिखेरते महुआ के फूल कोचियों की साजिश में गोदामों की हिरासत में हैं, और बाजार में बिक चुके तीखुर से बचा हुआ एक फूल जुड़े में मुरझा रहा है।

बस्तर की पीड़ा का इतिहास इन कविताओं में सांकेतिक रूप में मूर्त हुआ है। उसे अपेक्षया सांकेतिक और कलात्मक रूप में पूनम वासम की कविताएँ व्यक्त करती हैं। उनके यहाँ बस्तर के आन्तरिक संघर्ष के विशद आख्यान हैं। उनके काव्य-संग्रह 'मछलियाँ गाएँगी एक दिन पण्डुम गीत' की कविताओं में प्रागाधुनिक बस्तर की स्मृतियाँ तरल होकर बहती हुई समकालीन बस्तर की उजाड़ वास्तविकता में हिमजड़ित हो जाती हैं। उनके यहाँ बस्तर के भूगोल और इतिहास का, मिथक और यथार्थ का, उसके अतीत और वर्तमान के अनुभवों का विलय अनूठा विन्यास और धज प्राप्त करता है। इनमें अन्तर्वस्तु और शिल्प का सन्तुलन भी ध्यान खींचता है। पूनम का बस्तर निपट स्थानीय और समकालिक अनुभवों की गझिन अभिव्यक्ति में सहमता-चीत्कारता-हाँफते हुए पनाह के लिए भटकती हुई एक संकटग्रस्त सभ्यता है। वह खून और धूल-माटी में लिथड़ा हुआ अतिक्रान्त भूखण्ड है। छली गयी और छलनी कर दी गयी धरती के अभिशप्त जीवन का समूचा मर्म उनकी कविताओं में चीख बनकर मुखर है। रूमान और वास्तविकता का दुर्लभ सन्तुलन इन कविताओं को विशिष्ट बनाता है। ये कविताएँ स्थानीयता की उस भूमि पर गहरी जड़ें पसारती हैं जो आधुनिक राष्ट्र-राज्य और पूँजी-तन्त्र द्वारा निर्मित समाजार्थिकी के बीच सांस्कृतिक विस्मृति की जलवायु में जिन्दा रहने के लिए अभिशप्त है–

तुम भूल जाओ हथेलियों में झोकर पानी पीना/यहाँ तक कि उन दो हथेलियों की दो उँगलियों को भी/ जिन्हें रोटी के टुकड़े पकड़ने में कम और/आदिमकाल से हाथों में पकड़े अपने धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने के लिए ज्यादा इस्तेमाल किया/तुम भूल जाओ जंगल की उन पत्तियों को चबाना/जिनको जीभ पर धरते ही बदल जाता था मन का मौसम/भूल जाओ/ चिड़ियों की भाषा में आने वाली आपदाओं के संकेत/ शिकार के वक्त बुदबुदाने वाले मन्त्र!/मृतक के पैरों में चावल की पोटली बाँधकर/ विदा करने की परम्परा!/कि मरने के बाद भी अपने प्रिय को भूखा न देख पाने की पीड़ा/तुम्हें किसी और मिट्टी में उगने नहीं देगी/तुम्हारी स्थानीयता ही तुम्हारी संस्कृति की चेतना है।

पूनम वासम की तरह दिवंगत कवियों, शाकिर अली और त्रिजुगी कौशिक की बस्तर-केन्द्रित कविताएँ भी यथार्थ से सीधी मुठभेड़ के साक्ष्य देती हैं। उनकी अभिव्यक्ति में कलात्मक होने का झमेला नहीं, बल्कि कलात्मकता के प्रति उदासीनता की हद तक, दो टूक कथन का खरापन है। शाकिर अली तभी वह कह पाते हैं– *''बस्तर स्वर्ग है/ और यहाँ के आदिवासी, अब स्वर्गवासी''*। शाकिर अली बस्तर में सक्रिय शासनतन्त्र, कारपोरेट लूटतन्त्र और माओवादी दमनतन्त्र के समेकित दबाव को प्रश्नांकित करते हैं। उनकी छोटी-छोटी कविताओं में हिंसा, दमन और नव औपनिवेशिक लुच्चेपन के मुँहजोर चित्र हैं, और बस्तर के आदिवासी जीवन की विकट असहायता भी–

हेमल गंगा की लाश पड़ी हुई थी/ कोई हाथ नहीं लगा रहा था/ मृत्यु, संगीत रायपुर के एन्थ्रोपोलॉजी विभाग के शोध कक्ष/ की सीडी में कैद थे/ स्मृति-चिह्नों को काठ मार गया था/ परिवारजन अवरुद्ध कण्ठ चुपचाप/ उसे दफनाकर वापस आ गये थे।

त्रिजुगी कौशिक की कविताओं में भी काव्य-सौष्ठव की बजाय प्रतिरोध की बेबनाव अभिव्यक्ति है–

मुर्गे को क्या मालूम/ कि लड़ाने वाले दो हाथों के पीछे/ कितने हाथ हैं/ उन्हें तो बस मालिक के लिए/ लड़ना है/ और कहलाना है/ एक दिन शहीद!

समकालीन कविता बस्तर जो मन्थर गति से साँस लेते स्वयंपूर्ण और आत्मतृप्त लोक की तरह नहीं देखती, उसके आन्तरिक घर्षण, विघटन और मानवीय त्रासदियों की पहचान करते हुए उसे एक अभिशप्त मृत्युलोक के रूप में चित्रित करती है।

■

अवैध आप्रवासन का खतरनाक मायाजाल

धीरंजन मालवे

जहाँ 1860 के दशक में गुलाम बनाकर लाये गये काले लोगों को कानून में ढील देकर नागरिकता प्रदान करने का निर्णय लिया गया, वहीं 1882 के एक कानून द्वारा चीन से आने वाले आप्रवासियों पर रोक लगा दी गयी। इस कानून को 1943 में रद्द किया गया।

पिछले पाँच फरवरी को जब अमरीकी सैनिक विमान अमरीका से 104 निष्कासित भारतीय नागरिकों के साथ अमृतसर उतरा तो यह घटना सभी अखबारों, रेडियो, टेलीविजन और डिजिटल मीडिया की सुर्खियों में छा गयी। ये वो लोग थे जो अपनी जमीन-जायदाद बेचकर औसतन पचास लाख रकम जुटाने के बाद उसे पूरी तरह से स्वाहा करते हुए, और महीनों तक हर प्रकार की मुसीबत झेलते, मैक्सिको से लगने वाली अमरीकी सीमा तक पहुँचे थे। यहाँ अपनी जान जोखिम में डालकर उन्होंने खतरनाक तरीकों से अपने सपनों के देश अमरीका में प्रवेश किया था।

हर परेशानी के बावजूद उनकी उम्मीद इस बात पर टिकी थी कि यदि वे किसी भी तरीके से अमरीका में घुसने में सफल हो जाते हैं तो उसके बाद आप्रवासन विशेषज्ञों की मदद से वहाँ बस जाने की गुंजाइश निकल ही आएगी। हालाँकि जब तक ऐसा नहीं होता तब तक पुलिस की नजरों से बचकर रहना होता है। जीवन गुजारने के लिए काम मिलने में मुश्किलें आती हैं। अगर काम मिलता भी है तो इनकी मजबूरी का फायदा उठाते हुए इनके नियोक्ता इन्हें सरकारी दरों से बहुत कम मजदूरी देते हैं। बहुधा इन्हें एक ही कमरे में कई लोगों के साथ रहना पड़ता है। बस यही उम्मीद रहती है कि एक दिन जीवन में स्वर्णिम भविष्य का दौर शुरू होगा।

मगर इन आप्रवासियों की किस्मत धोखा दे गयी। अमरीका में प्रवेश करने के बाद वे वहाँ की बॉर्डर पुलिस की गिरफ्त में आ गये और उसके बाद शुरू हुआ पुलिस की हिरासत और पूछताछ का सिलसिला. ऐसा कहा जाता है कि हिरासत के दौरान उन्हें यातनाएँ भी दी गयीं। उनकी भारत वापसी तो तय ही थी लेकिन तभी आग में घी पड़ जाने की तरह डोनाल्ड ट्रम्प देश के राष्ट्रपति बन गये। ट्रम्प के चुनावी वायदे में अवैध आप्रवासियों की अमरीका से वापसी शामिल थी। ट्रम्प ने अपने शपथ ग्रहण के साथ ही अपनी इस नीति को अमली जामा पहनाना शुरू कर दिया। जहाँ लातीनी अमरीकी देशों के अवैध आप्रवासियों की वापसी हुई वहीं भारतीय आप्रवासियों को भी अमरीका से देश निकाला देकर सैनिक विमान से वापस भेजा गया। इस लेख के लिखे जाने तक अमरीका द्वारा तीन खेपों में भारतीय आप्रवासियों को वापस भेजा जा चुका है।

भारत के लिए परेशानी की बात यह रही कि ये सारे आप्रवासी हथकड़ियों और बेड़ियों में जकड़कर वापस भेजे गये, और वह भी भारतीय प्रधानमन्त्री की अमरीका-यात्रा के ही आस-पास। भारत के विदेश मन्त्री एस. जयशंकर के सामने चुनौती यह थी कि कहीं यह मुद्दा इतना न उछल जाये कि प्रधानमन्त्री की अमरीका यात्रा का असली

लेखक बीबीसी में प्रसारणकर्मी एवं प्रसार भारती के पूर्व उच्चाधिकारी रहे हैं।
+919810463338
dhiranjan@gmail.com

उद्देश्य ही दरकिनार हो जाये और भारत के दूरगामी हितों पर ही पानी फिर जाये। उन्होंने स्थिति को सँभालने की अपनी कोशिश में यह तर्क दिया कि भारत स्वयं भी देश से अवैध आप्रवासन के विरुद्ध है और यदि वापस भेजे गये लोग कागजात की जाँच के बाद भारतीय नागरिक पाये जाते हैं तो उन्हें देश अवश्य ही स्वीकार करेगा। संसद में दिये गये अपने बयान में उन्होंने यह भी कहा कि अवैध रूप से अमरीका में पहुँचे भारतीय नागरिकों की जबरन वापसी में नया कुछ भी नहीं है। 2009 से अब तक विभिन्न अमरीकी राष्ट्रपतियों के कार्यकालों के दौरान कुल मिलाकर लगभग सोलह हजार भारतीय अमरीका से निकाल बाहर किये जा चुके हैं।

अवैध आप्रवासियों की हथकड़ी-बेड़ियों में वापसी पर जयशंकर की टिप्पणी थी कि इस प्रकार की कार्रवाई अमरीका की मानक कार्य प्रणाली का हिस्सा है। उनकी राय थी कि समस्या की जड़ पर ही आघात किया जाये और उन एजेण्टों पर अंकुश लगाया जाये जो भोले-भाले लोगों को अमरीका की ऐशो-आराम वाली जिन्दगी का सब्जबाग दिखा कर उनका सर्वस्व लूट लेते हैं। यह लोगों के अपने हित में है कि वे विदेशों में जाकर बसने के कानूनी तरीकों का ही सहारा लें और गैरकानूनी तरीकों से बचें।

ट्रम्प ने अपने चुनावी भाषण में अवैध आप्रवासियों को एक बड़े मुद्दे की तरह से पेश किया था। उनका यह मानना है कि अवैध आप्रवासी अमरीकी कामगारों के रोजगार छीनते हैं; अमरीकी करदाताओं पर बोझ बनते हैं; सुरक्षा के लिए खतरा बनते हैं; स्थानीय स्कूलों, अस्पतालों इत्यादि पर अत्यधिक दबाव बनाते हैं। देश के कीमती संसाधनों से अमरीका के गरीब नागरिकों को आप्रवासियों की वजह से वंचित रहना पड़ता है। ट्रम्प के अनुसार अवैध आप्रवासियों पर अमरीका को हर वर्ष अरबों अरब डॉलर खर्च करने पड़ते हैं। इस बार की अपनी चुनावी रैलियों में तो वे यहाँ तक कह गये थे कि अवैध आप्रवासी अपने आस-पास के पालतू जानवरों को चुरा कर खा जाने को हमेशा तत्पर रहते हैं। यानी कुल मिलाकर अवैध आप्रवासी देश की हर समस्या के लिए जिम्मेदार हैं।

ट्रम्प की धारणाएँ पूरी तरह से सही नहीं हैं। कतिपय शोधों में पाया गया है कि आप्रवासन अमरीकी अर्थव्यवस्था के लिए फायदेमन्द है। साथ ही अमरीका के वैध निवासियों की तुलना में आप्रवासियों द्वारा किये जाने वाले अपराध की दर अत्यन्त कम है।

मगर ट्रम्प ने सत्ता में वापसी के तुरन्त बाद ही आप्रवासियों पर कठोर कार्रवाई शुरू कर दी। हालाँकि यह महँगा सौदा है। एक खेप में लगभग साढ़े चार करोड़ रुपयों का खर्च आता है और ऐसा कहा जा रहा है कि आने वाले दिनों में ट्रम्प प्रशासन अवैध आप्रवासियों को सीधे उनके देश भेजने की बजाय होन्दूराज, पनामा या कोस्टारिका जैसे लैटिन अमरीकी देशों में ले जाकर छोड़ देगा और जब तक ये आप्रवासी अपने देश नहीं जाते तब तक अन्तरराष्ट्रीय आप्रवासन संगठन और संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी एजेंसी इनकी भरसक सुध लेते रहेंगे।

वैसे तो अमरीका आप्रवासियों का ही देश है। रेड इंडियन लोगों को छोड़ दें तो यहाँ हर कोई बाहर से ही आकर बसा है। अमरीका की खोज कोलम्बस ने 1492 में की थी। उसके बाद यूरोप की गोरी आबादी रेड इंडियन मूलवासियों के मानवाधिकारों को कुचलती हुई यहाँ बसने लग गयी। कालान्तर में गोरी आबादी ने मान लिया कि इस देश पर उन्हीं का मूल अधिकार है। 1970 में बने कानून द्वारा केवल स्वतन्त्र गोरे लोगों को ही यहाँ की नागरिकता प्रदान करने का निर्णय लिया गया। आगे चलकर आवश्यकतानुसार इस कानून में समय-समय पर ढील दी जाती रही या सख्ती बरती जाती रही।

1921 में अमरीका ने अपने देश में अन्य देशों के लोगों को बसाने के लिए जो व्यवस्था लागू की उसके अनुसार विभिन्न देशों के आप्रवासियों के लिए अमरीका में उनकी जनसंख्या के प्रतिशत के आधार पर कोटा तय किया गया। इसका लाभ मुख्यतः उत्तर-पश्चिमी यूरोप के लोगों को ही मिलता था।

इस कोटा व्यवस्था को 1965 में खत्म कर एक नया कानून बनाया गया जिसका उद्देश्य पूरी दुनिया के कुशल और प्रशिक्षित लोगों को अमरीका की ओर आकर्षित करना रहा है। इसके बाद आप्रवासन पर उत्तर-पश्चिमी यूरोप का वर्चस्व समाप्त हो गया और यहाँ अधिकांश आप्रवासी एशिया और लातीनी अमरीका से आने लगे।

अमरीका का मानना है कि तमाम विवादों और आलोचनाओं के बावजूद अमरीका की आप्रवासन नीति पूरी दुनिया में सबसे उदार है। यह अलग बात है कि इसमें अमरीका के अपने राष्ट्रीय हित जुड़े हुए हैं। यानी अमरीका के लिए असली समस्या केवल अवैध आप्रवासियों की है। पिउ रिसर्च सेण्टर के द्वारा किये गये अध्ययन के अनुसार 2022 में अवैध आप्रवासियों की कुल संख्या एक करोड़ 10 लाख थी जिनमें अधिकांश मैक्सिको और दक्षिणी अमरीका से थे। अकेले मैक्सिको से 40 लाख अवैध आप्रवासी थे। भारत के आप्रवासियों की संख्या केवल सवा सात लाख की थी। इस संख्या में बढ़ोत्तरी का अनुमान है और अवैध आप्रवासियों की कुल संख्या अब एक करोड़ तीस लाख के आस-पास हो सकती है।

ऐसे में सभी अवैध आप्रवासियों को देश से बाहर निकाल पाना आसान और व्यावहारिक नहीं लगता। एक आकलन के अनुसार इस पर कम-से-कम 315 अरब डॉलर का खर्च आ सकता है। मगर असली समस्या इसे अंजाम देने की है। एक करोड़ लोगों को देश के कोने-कोने से ढूँढ़ पाना आसान नहीं है। अगर ऐसा कर भी लिया गया तो इतने लोगों को बन्दी बनाकर रखेंगे कहाँ! इसके बाद इतने लोगों को वापस भेजने के लिए प्रशासनिक मशीनरी कैसे निर्मित होगी! यानी नये आप्रवासियों पर भले ही रोक लग जाये मगर देश में आ चुके आप्रवासियों से निपटना टेढ़ी खीर लगता है। ऐसे में यही सम्भावना लगती है कि शुरुआती ड्रामेबाजी के बाद शायद यह मसला धीरे-धीरे ठण्डे बस्ते में चला जाये।

भारत के लिए भी अवैध आप्रवासन राष्ट्रीय शर्मिन्दगी का कारण बन जाता है। ऐसे में पंजाब, हरियाणा और गुजरात सहित पूरे देश में अवैध आप्रवासन के खतरों के प्रति जागरूकता तो पैदा करनी ही होगी, साथ ही आप्रवासन एजेण्टों की कारगुजारियों पर अंकुश भी लगाना होगा। यह भी उम्मीद की जानी चाहिए कि भारत की अर्थव्यवस्था जैसे-जैसे विकसित होगी, अवैध आप्रवासन अपने आप घटता जायेगा।

■

परती परिकथा

नये राजनीतिक इतिहास की जरूरत

हितेन्द्र पटेल

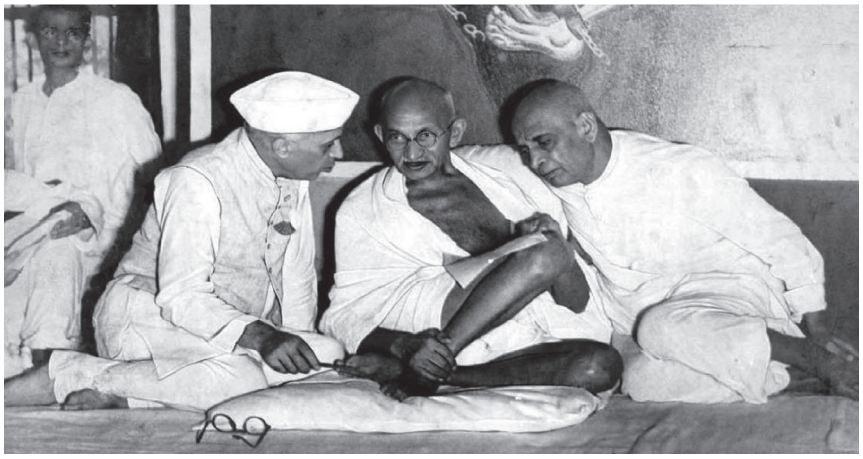

भारतीयता की भावना का नारा आज चारों ओर गुंजायमान है। उसमें भारतीयता का अर्थ है या उसमें अनर्थ अधिक है, इसके बारे में विचार करना होगा लेकिन यह बिल्कुल तय है कि भाषा को बदले बिना इस एलीट के लिए काँग्रेस की राजनीतिक लड़ाई को आगे ले जाना या नेहरू की विरासत को बचाना असम्भव है। भारत को एक निष्पक्ष राजनीतिक इतिहास की सख्त जरूरत है। इसमें काँग्रेस का भी हित है और देश का भी।

लेखक इतिहास के प्राध्यापक और विचारक हैं।
+919230511567
hittisaba@gmail.com

राजनीतिक इतिहास के पुनर्लेखन के बिना आज की राजनीतिक स्थिति में आये गुणात्मक अन्तर की पहचान मुश्किल है। आज सिर्फ राजनेतागण पार्टी लाइन पर विभाजित नहीं हैं, उस पर विचार करने वाले पत्रकार और बुद्धिजीवी भी राजनीतिक पार्टी लाइन पर विभाजित हो रहे हैं। भारत के भीतर की राजनीतिक लड़ाई को बाहर खींचकर ले जाना पहले कम ही होता था। इस मामले में काँग्रेस के समर्थकों की दिक्कतें और ज्यादा हैं। इस पार्टी को खास तरह से एक बढ़त बनी हुई थी क्योंकि इनके नेताओं की ट्रेनिंग पब्लिक स्कूलों की थी और वे सहज रूप से विदेशी राजनयिकों से मिल-जुल लेते थे। जब से दूसरे दल के लोग भारत का नेतृत्व करने लगे हैं, उनकी शैली में परिवर्तन हुआ है। इसे सहज तरीके से लिया जाना चाहिए। साथ ही यह भी देखा जाना चाहिए कि अँग्रेजों की औपनिवेशिक दासता के फलस्वरूप जो अँग्रेजी ढंग की राजनयिक बातचीत करने की संस्कृति का विकास हुआ है, उससे कुछ अलग ढंग से भी भारतीय राजनयिक और उच्च पदस्थ लोग बात कर सकते हैं। अभी स्थिति यह बन गयी है कि अगर आप काँग्रेस की राष्ट्रवादी दृष्टि के साथ हैं तो आप गाँधी, नेहरू को राष्ट्रपिता और राष्ट्रनिर्माता मानकर बात करें और उनके कहे-किये को सकारात्मक तरीके से देखें-समझें। अगर आप भारतीय राष्ट्रवादी दृष्टि के हिन्दूवादी प्रभाव में हों तो आप इन दोनों को आलोचनात्मक ढंग से देखें और उनमें त्रुटियाँ अधिक देखें। उनकी जगह अन्य किसी नेता को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाकर पेश करें।

इस कारण यदि आप गाँधी, नेहरू के बारे में लिखें तो पहले आपको यह स्पष्ट करना होगा कि आप प्रशंसा करेंगे या उनकी निन्दा! उसके आधार पर आज स्थिति यह हो गयी है कि आप किस ऐतिहासिक व्यक्ति पर टिप्पणी कर रहे हैं और उसके आधार पर आपकी वैचारिक दृष्टि के बारे में राय बन जाती है।

पिछले दिनों भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू पर बातचीत का प्रारम्भ विशेष प्रकार से हुआ। उनको भारत निर्माता, विश्वस्तरीय नेता के रूप में याद किया गया और यह प्रमाणित करने की कोशिश हुई कि आज जो लोकतान्त्रिक भारत का अस्तित्व है, उसके लिए अधिकतर श्रेय उन्हीं को है। काँग्रेस चूँकि नेहरू, गाँधी को आदर्श मानकर राजनीतिक छवि-निर्माण करती रही है, इसलिए नेहरू के बारे में काँग्रेस विरोधी नकारात्मक बातें कहेंगे और इसे स्वाभाविक ही माना जा सकता है।

ऐसे परिवेश में भारत के वर्तमान प्रधानमन्त्री अमरीका के दौरे पर गये और अमरीकी राष्ट्रपति के साथ प्रेस कॉन्फ्रेंस किया। इस तरह के मौकों पर देशहित और मान का ख्याल करके भारतीय पत्रकार ऐसी बातें नहीं लिखते जिससे राष्ट्र के नायक या प्रधानमन्त्री का कोई अपमान हो। याद पड़ता है कि जब सुनील गावस्कर की टीम पाकिस्तान में टेस्ट मैच सीरीज हारी थी तो विजेता कप्तान इमरान खान से जब किसी

भारतीय पत्रकार ने सुनील गावस्कर की कप्तानी पर एक प्रश्न पूछा था तो लोगों ने इसे बहुत खराब और देश विरोधी माना था। आपस के झगड़े हों तो उसे हम बाहर नहीं ले जाएँगे, यह भाव बना रहा है पर इस समय यह नहीं होता। अगर प्रधानमन्त्री कहीं अपनी बात को कहते हुए लड़खड़ाये तो उसका मजाक उड़ाना भी ठीक समझा जाता है। जरा इस बात पर गौर किया जाये कि ऐसा होने के क्या कारण हैं। भारतीय प्रधानमन्त्री जब अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर बोलते हैं तो वे अँग्रेजी में बोलते रहे हैं। यह चलन नेहरू के समय से ही है। अँग्रेजी में होने वाली बातचीत में अँग्रेजी जिनकी मातृभाषा है, उनको एक बढ़त होती ही है। नेहरू इंग्लैण्ड में पढ़े थे और वे उनके तौर-तरीकों को जानते-समझते थे; इसलिए वे उनके साथ अच्छी बातचीत कर लेते थे। काँग्रेस को शुरू से ही इस बात का खयाल था कि उनके नेता की अन्तरराष्ट्रीय छवि का फायदा उनको मिलना चाहिए; इसलिए वे मीडिया प्रबन्धन कायदे से करते थे। यह काम तीस के दशक से ही जवाहरलाल नेहरू के लिए करने वाले लोग थे। तीस और चालीस के दशक में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका कृष्ण मेनन की थी। इसके बारे में सुविस्तारित ढंग से मेनन की जीवनी में लिखा है। बाद में इन्दिरा गाँधी के लिए काम करने वालों में कई दिग्गज लोग रहे। काँग्रेस में तब दिक्कत की स्थिति आयी जब नेहरू परिवार के बाहर के लोग प्रधानमन्त्री के रूप में बाहर गये। लालबहादुर शास्त्री जब प्रधानमन्त्री बने तो उनका मजाक उड़ाया गया था। इस बात की चर्चा भी हुई थी कि कैसे अय्यूब खान ने लाल बहादुर शास्त्री से हाथ मिलाने से इनकार कर दिया था। बाद में उनकी छवि युद्ध में विजय, जय जवान, जय किसान के नारे के बाद बदली पर उसके पहले उनकी छवि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अच्छी नहीं थी।

नरसिम्हा राव जैसे विद्वान भी जब अमरीका गये तो ज्वाइण्ट कॉन्फ्रेंस में हास्यास्पद स्थिति तब पैदा हो गयी जब अमरीकी राष्ट्रपति क्लिण्टन से ही सारे सवाल पूछे गये। इसके पूर्व राजीव गाँधी की अमरीकी यात्रा में भाषणों और प्रेस कॉन्फ्रेंस में उनको यह दिक्कत नहीं हुई। मनमोहन सिंह विद्वान थे और वे सँभल-सँभल कर तौल-तौल कर बोलते थे; इसलिए उनको दिक्कत नहीं हुई। जब प्रतिपक्ष के प्रधानमन्त्री बने तो उनमें से अधिकतर घर में ही ज्यादा उलझे रहे। मोरारजी देसाई से लेकर विश्वनाथ प्रताप सिंह और अटल बिहारी वाजपेयी के लिए वैश्विक स्तर पर बहुत अधिक बोलने के अवसर कम आये। ये सभी बड़े कद के राजनेता थे लेकिन अँग्रेजी में प्रेस कॉन्फ्रेंस में वे उतने सहज नहीं होते थे। अटल जी हिन्दी में बहुत प्रभावी वक्ता थे और उनके भाषण हिन्दी में होने के कारण हिन्दी समर्थकों को पसन्द भी आते थे। याद पड़ता है, मोरारजी देसाई का एक इण्टरव्यू हाल में यूट्यूब पर जब सुना गया तो कई सुनने वाले आश्चर्य व्यक्त कर रहे थे कि मोरारजी की अँग्रेजी बहुत अच्छी थी!

गैर-काँग्रेसी नेताओं की वैचारिकी से एलीट का सम्पर्क बहुत कम रहा। लोहिया का तो सौभाग्य था कि पित्ती जैसे लोगों ने उनके बोले-लिखे को हमारे लिए सुरक्षित रखा, वरना हम ठीक से जान ही नहीं पाते कि लोहिया का काँग्रेस विरोध क्यों था! अम्बेडकर का लिखा तो बहुत था लेकिन उस पर ध्यान तब दिया गया जब विश्व-स्तर की संस्थाओं ने अपने कारणों से उनके ऊपर लिखने-पढ़ने के लिए शोधार्थियों को तैयार किया और उन्हें आर्थिक मदद देना शुरू किया। उसके पहले तक तो सब कुछ गाँधी नेहरू के ऊपर ही केन्द्रित रखा गया। निजलिंगप्पा, हरे कृष्ण माहताब और बहुत सारे लोग हैं जिनके बारे में जानकारी बहुत कम उपलब्ध है। नरेन्द्र मोदी के बारे में सबको यह लगता था कि ये देश में जो भी करें जब अन्तरराष्ट्रीय मंच पर जाएँगे तो उनका सीमित अँग्रेजी ज्ञान उनको हल्का बना देगा। मोदी ने अँग्रेजी बोलकर दिखला दिया, तब कहा गया कि टेलीप्रिण्टर की मदद से बोले! इस बार मोदी बुरे फँसेंगे ऐसा भी सोचा गया क्योंकि वे अमेरिका की मीडिया के सामने थे। इस प्रेस कॉन्फ्रेंस में भारतीय प्रधानमन्त्री ने हिन्दी में अपनी बात रखी। इस निर्णय ने अँग्रेजी की बढ़त खत्म कर दी। भारत के एलीट के लिए भारत के प्रधानमन्त्री का हिन्दी में बोलना असह्य रहा होगा; ऐसा माना जा सकता है।

दूसरा उदाहरण तब सामने आया जब भारत के पूर्व चीफ जस्टिस चन्द्रचूड़ का इण्टरव्यू बी.बी.सी. के प्रोग्राम हार्ड टॉक के लिए रिकॉर्ड हुआ। बी.बी.सी. के कार्यक्रम में भारत के पूर्व चीफ जस्टिस के साथ बी.बी.सी. के पत्रकार की बातचीत को पूरा सुनने के बाद एक बात समझ में आती है कि अँग्रेजी का अहंकार अभी भी श्रेष्ठताबोध का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। चन्द्रचूड़ अँग्रेज के टर्म्स में बोल रहे थे। उनकी भाव-भंगिमाओं को देखकर यह साफ समझ में आता है कि अँग्रेज पत्रकार भारतीय मुख्य न्यायाधीश पर हावी होकर बोल रहा था।

इस बात को कई बार कहा जा चुका है कि समग्रतावादी राष्ट्रवाद काँग्रेस की शक्ति है और वही नेहरू की विरासत को बचाने का मूलमन्त्र भी है लेकिन इसके लिए काँग्रेस ने आन्दोलन किया और जनता को भागीदार बनाया। उसके बिना काँग्रेस की शक्ति का कोई विशेष अर्थ नहीं होता। जनता से जुड़े बिना विरोध लबरियाना है; शब्दों का खेल है। लबरियाना शब्द मैंने उनके लिए बनाया है जो शब्दों से ही सभी युद्ध में विजय प्राप्त कर लेना चाहते हैं। विजय जिस तरह से हो, जिसकी भी हो, अमृत कलश को अपने कब्जे में लेने की कोशिश में चालाक लोग आजादी के बाद एक बार सफल हो गये। दुबारा भी होने की कोशिश में लगे हैं।

ऐसा कहा जाना अब जरूरी है कि उदार विचारधारा के हिसाब से चल रही सोच भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में प्रभाव खो चुकी है। धर्म और जाति सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं। ये दोनों ही मुद्दे उदार विमर्श में बहुत महत्त्व नहीं पाते। इसलिए उदार बौद्धिकता अब राजनीति के क्षेत्र में निष्प्रभावी है। हाँ, अकादमिक बहसों में अभी भी उसका प्रभाव है। बौद्धिकता का असली मामला संघर्ष से जुड़ा है। काँग्रेस के राजनीतिक संघर्ष का एक लम्बा इतिहास है लेकिन कतिपय कारणों से संघर्ष करने वाले काँग्रेसी नेतागण अँग्रेजी पढ़े काँग्रेसी तन्त्र के मुकाबले में पिछड़ गये। जब तक पीएन हक्सर जैसे लोग रहे काँग्रेस में पढ़े-लिखों की कद्र रही। खुद इन्दिरा गाँधी भी पढ़े-लिखे लोगों के महत्त्व को समझती थीं। खुशवन्त सिंह को भी साथ रखती थीं और विद्यानिवास मिश्र को भी महत्त्व देती थीं। आज कमलापति त्रिपाठी जैसे नेता यूपी में क्यों नहीं हैं? देखा जाये तो हर राज्य में काँग्रेस के बड़े-बड़े नेता थे। आज कुछ राज्यों को छोड़ अधिकतर जगह नेतृत्व का संकट है। इन्दिरा गाँधी कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट लोगों को भी अपने आस-पास जगह देती थीं।

सत्तर के दशक के बाद राजनीति की दिशा जिस तरह जाति और धर्म को लेकर बदली, उस बदलाव के बीच काँग्रेस पुराने किस्म की अपनी राजनीति को अस्सी में टिकाये रख

सकी, लेकिन नब्बे के दशक में काँग्रेस बदल गयी। काँग्रेस को अब अपने को बदलना था, नेहरू परिवार के बाहर के लोगों को काँग्रेस का मुख्य बनाना था। उन्हें अच्छे नेता भी मिल सकते थे। राजीव गाँधी की दुर्भाग्यजनक हत्या के बाद भी काँग्रेस ने नेहरू, इन्दिरा की विरासत को लेकर ही काम किया। प्रधानमन्त्री के लिए परिवार का कोई उपलब्ध नहीं हुआ तो बीच के अन्तराल के लिए उनको नेता बनाये रखा गया जिनको जब चाहे हटाया जा सके। इस बीच में इतिहास की जो व्याख्या काँग्रेस द्वारा राष्ट्रीय हित में प्रचारित हुई, उसमें गाँधी, नेहरू की केन्द्रीयता बनी रही। देश की राजनीति आगे बढ़ चुकी थी और देश के राजनीतिक इतिहास की वही पुरानी समझ ही चलायी जाती रही। मुझे लगता है, भारतीय राजनीतिक इतिहास के मूल में एक गुत्थी है। इस वाक्य पर गौर करें : ''संविधान से राज्य चल सकता है समाज नहीं।'' इस बात को कहने के बाद कुछ और प्रश्न पूछे जा सकते हैं। राज्य के लिए संघर्ष कौन कर रहा था? किसके लिए कर रहा था? दूसरे शब्दों में कहें, राज सत्ता किसे मिली? इसी प्रश्न से जुड़ा एक प्रश्न है : राजसत्ता के लिए संघर्ष और समाज में वास्तविक बदलाव के लिए संघर्ष एक-दूसरे से कितने जुड़े हैं? जुड़े हैं तो देश में जो लोग मुक्ति के लिए संघर्ष करने वाले थे, उनके इतिहास को ठीक से रखा जाना चाहिए या उन्हें बस साइड में रखकर चलना चाहिए? सामाजिक और आर्थिक बदलाव के लिए लड़ने वाले लोग जो आजादी का सपना देख रहे थे, वह तो लड़कर छीनने का सपना था। उसमें पिछले शासक से सत्ता लेने का विकल्प था ही नहीं। हमने वैधानिक तरीके से आजादी हासिल की। तमाम कानूनी दाँव-पेंच लगाकर। इस पूरी प्रक्रिया में गाँधी की लोकशक्ति वह दबाव शक्ति थी जो 1942 तक नियन्त्रित रही। उसके बाद की लोकशक्ति नियन्त्रित नहीं थी। इस अनियन्त्रित लोकशक्ति से ब्रिटिश भयभीत थे और भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व भी। इस पाँच साल के इतिहास पर ध्यान देने से यह समझ में आ जाना चाहिए कि अँग्रेज काँग्रेसी नेतृत्व को राजनीतिक खेल में मात देने की कोशिश में थे और काँग्रेस अपना काम निकालने की हड़बड़ी में थी।

भारत का विभाजन होने के पीछे मूल कारण धर्म था या राजनीति? इतिहास को पढ़ने से लगता है धर्म के दुरुपयोग की राजनीति थी। साहित्य को ठीक से पढ़िये तो लगता है, यह दुरुपयोग इसलिए हो सका क्योंकि धर्म का उपयोग उसके दुरुपयोग से जुड़ा हुआ है। धर्मशक्ति से बल लेकर गाँधी ने जो नयी राजनीति बनायी थी उस पर ध्यान दीजिये। और वह हिन्दू धर्मशक्ति नहीं थी, इस्लामिक धर्मशक्ति थी। इस शक्ति ने गाँधी को तिलक, चित्तरंजन दास और मदनमोहन मालवीय से ऊपर उठाया। यह नयी किस्म की राजनीति थी।

जिन्ना ने गाँधी को इसके खतरों के प्रति सचेत किया था पर गाँधी को लगता था कि वे सबको साथ लेकर चल लेंगे। वे अँग्रेजों के प्रति आस्था रखते थे, मुसलमानों के प्रति विश्वास रखते थे और हिन्दुओं की भाषा में नैतिक राजनीति करते थे। यही गाँधीवाद को उस ऊँचाई पर ले गया जिसके कारण वे देश के सबसे शक्तिशाली नेता बने रहे दो दशकों तक।

दो दशक बाद उनका वास्तविक राजनीतिक आधार खिसक गया क्योंकि वे जिस उद्देश्य को लेकर चल रहे थे, वह राजनीतिक से अधिक नैतिक था। उसको राजनीतिक तरीके से हासिल नहीं किया जा सकता था। सामाजिक आन्तरिक संघर्ष तीव्र थे जिसके दबाव में राष्ट्रीय एकता टूट रही थी। ऐसे में जब समाजवादी स्वप्न सांगठनिक शक्ल लेने लगा और काँग्रेस को रेडिकल बनाने लगा (एम.एन. राय, समाजवादी और साम्यवादी समेत नेहरू, सुभाष जैसे राष्ट्रवादी काँग्रेसी इसमें एक साथ थे) तब यह बहुत कठिन हो गया। उस दबाव में काँग्रेस ने अपनी शक्ति को सांगठनिक बल और गाँधी की शक्ति से सरदार पटेल के नेतृत्व में पूँजीपतियों के सहयोग से ही बनाये रखने में सफलता पायी। नेहरू की वैचारिकता और गाँधी-पटेल की राजनीति के बीच में जो तनाव उत्पन्न हुए उसमें से जिस नेहरू का उदय हुआ, वह एक मिश्रित विरासत को लेकर चला।

1936 के पहले और उसके बाद के नेहरू में अन्तर क्या है, यह विचारणीय है। बहरहाल, जो हुआ वह यह कि राजनीतिक चक्रव्यूह में राष्ट्रीय नेतृत्व फँस गया और किसी तरह से आजादी मिली तो देश-विभाजन की कीमत पर।

यह देश-विभाजन राजनीतिक कौशल से नहीं रोका जा सका। अब इस स्वाधीन भारत में जवाहरलाल नेहरू देश के भाग्य-विधाता थे। उनके पास गाँधी की विरासत थी, काँग्रेस का संगठन बल सरदार के रूप में था और पूँजीपतियों का समर्थन था। साथ ही उनके पास समाजवादी सोच की भाषा भी थी। जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय आन्दोलन से निकले हुए बौद्धिक रूप से सचेत व्यक्ति थे। वे राष्ट्रीयता की शक्ति को जानते थे। उन्होंने कुशलता से अपनी राजनीतिक शक्ति को प्रतिष्ठित किया। सरदार की मृत्यु के बाद वे सब कुछ थे।

इस नेहरू के स्वप्न में एक आधुनिक भारत के निर्माण का स्वप्न था जो देश के इतिहास, दर्शन को यूरोपीय विज्ञान के साथ जोड़कर सोचने में यकीन करता था। इस प्रक्रिया में उन्हें औपनिवेशिक एलिट की मदद सशर्त मिली। इसमें उन्होंने साम्यवादी बौद्धिक शक्ति को भी जोड़ने में सफलता पायी। यही एलीट प्रभु-वर्ग के रूप में दिल्ली समेत सभी केन्द्रों में शक्तिशाली बना। इस एलीट के लिए राजसत्ता के समस्त सुख और सुरक्षा का इन्तजाम नेहरू और इन्दिरा गाँधी की सरकारों ने किया। इस एलीट के पास राजनीति की शक्ति नहीं थी। उसका सारा इन्तजाम काँग्रेस के जिम्मे था। काँग्रेस के लिए राजनीतिक लड़ाई का काम करने वाले इस एलीट वर्ग के सदस्य कम ही हो सके। लोकतान्त्रिक संग्राम के और आगे बढ़ने के बाद काँग्रेस जब दरकने लगी, काँग्रेस की राजनीतिक शक्ति कम होने लगी, कालान्तर में राजनीतिक सत्ता काँग्रेस के हाथ से फिसलकर बाहर चली गयी।

इसके साथ नयी राजनीति का समय आया। आज काँग्रेस को राजनीतिक शक्ति पाने के लिए जो जमीनी लड़ाई करनी पड़ रही है, उसमें इस लबरिया वर्ग की कोई खास भूमिका नहीं है। इनको लगता है कि इनकी विद्वता से जनता अपना समर्थन इधर से उधर कर देगी। इस बीच जनता का मन ही बदल गया है।

जनता की रुचि अभी भी धर्म-विमुख नहीं हुई है। यह राष्ट्र का सौभाग्य है। धर्म इस देश को जोड़े हुए है। अगर यह नहीं होता तो देश का बण्टाधार हो गया होता। इस सामाजिकता की शक्ति को नेहरू समझते थे। दुर्भाग्य से अपने को नेहरूवियन कहने वाले लोग इसे नहीं समझ सके। समग्रतावादी राष्ट्रीयता ही काँग्रेस को शक्तिशाली बना सकती है। इस दिशा में बढ़ने की पहली शर्त है, देश के भाव को समझना, उसकी भाषा में देश से जुड़कर सोचना।

■

शम्बूक, तुम्हारा रक्त एक दिन फूटकर बाहर आएगा

प्रियदर्शन

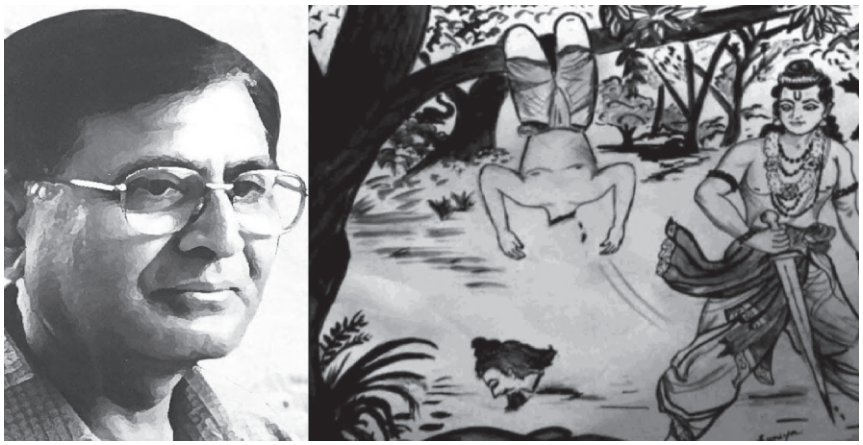

कायदे से किसी कवि की जाति नहीं होनी चाहिए। लेकिन वह होती है। उच्च वर्ण का कवि जाति के स्थूल बन्धनों को तो तोड़ने का भ्रम पाल लेता है, वह सामाजिक न्याय, आर्थिक बराबरी के पक्ष में और अस्पृश्यता को अभिशाप बताने वाली कविताएँ भी लिख लेता है, लेकिन क्या उसकी कविता में वह अनुभव संसार समाता है जो किसी जाति-विशेष का पिछड़ी जातियों का या फिर दलितों का होता है? क्या उसकी पीड़ा प्राथमिक तौर पर वही होती है जो किसी दलित कवि की होती है?

बीती सदी में अस्सी के दशक में जब ओम प्रकाश वाल्मीकि ने 'ठाकुर का कुआँ' जैसी कविता लिखी, या 'शम्बूक का कटा सिर' जैसी कविता में लिखा कि– *''जब भी मैंने/ किसी घने वृक्ष की छाँव में बैठकर/घड़ी भर सुस्ता लेना चाहा/मेरे कानों में/भयानक चीत्कारें गूँजने लगीं/जैसे हर एक टहनी पर/लटकी हों लाखों लाशें/जमीन पर पड़ा हो शम्बूक का कटा सिर/मैं उठकर भागना चाहता हूँ/शम्बूक का सिर मेरा रास्ता रोक लेता है/चीख-चीखकर कहता है–/ युगों-युगों से पेड़ पर लटका हूँ/बार-बार राम ने मेरी हत्या की है''*–तो पढ़ने वालों को झटका-सा लगा। यह ठीक है कि राम-कथा में शम्बूक-वध का प्रसंग है, लेकिन यह लांछन क्या उचित है कि बार-बार राम ने शम्बूक की हत्या की है?

यह कविता उस पूरे मिथक संसार पर चोट करती-सी लगती है जिसके बीच राम का भव्य और मर्यादित व्यक्तित्व गढ़ा गया है। बेशक, ऐसे आख्यान पहले भी कविता में रहे, लेकिन पहली बार वे ऐसे समुदाय के कवि की कलम से सामने आ रहे थे जिसको हाल-हाल तक बोलने की इजाजत नहीं थी। हालाँकि यहाँ एक नया सवाल हमारे सामने खड़ा हो जाता है। क्या कविता अपने-आप में सम्पूर्ण नहीं होती? क्या इस बात से कोई फर्क पड़ता है कि उसे किसने लिखा है? क्या उसका अर्थ रचयिता की पहचान बदलने के साथ कुछ बदल जाता है?

प्राथमिक स्तर पर लगता है कि ऐसा होना नहीं चाहिए। कोई भी लिखे, कविता से वही अर्थ ध्वनित होना चाहिए जो उसके भीतर है। लेकिन यह निर्दोष लगती व्याख्या तब समस्याग्रस्त हो उठती है जब हम यह समझने की कोशिश करते हैं कि कविता में जो अर्थ होता है, वह कहाँ से पैदा होता है? या कविता में अर्थ नहीं, भाव होते हैं जिनका वास्ता इस बात से भी होता है कि वह कहाँ से आ रही है, किनके द्वारा लिखी जा रही है। कल्पना करें कि अगर ब्रेख्त की कविताएँ हिटलर ने लिखी होतीं तो वे उसी तरह स्वीकृत होतीं? बेशक, इस कल्पना की त्रुटि यह है कि अगर हिटलर ब्रेख्त जैसी कविताएँ लिख पाता तो वह हिटलर ही क्यों होता? लेकिन थोड़ी देर के लिए मान लें कि हिटलर ने ब्रेख्त की कविताएँ चुरा ली होतीं और उन्हें अपने नाम से प्रस्तुत कर दिया होता तो भी क्या उनका प्रभाव वही रहता जो ब्रेख्त के नाम के साथ पैदा होता है? जाहिर है, लोग कविता को सन्देह से देखते, उससे व्यंजित हो रहे अर्थ की भी परवाह नहीं करते-या फिर उसके बीच

लेखक कवि, कथाकार एवं एनडीटीवी में वरिष्ठ कार्यकारी सम्पादक हैं।
+919811901398
priyadarshan.parag@gmail.com

ऐसा कोई विडम्बनामूलक अर्थ पैदा कर देते जिससे समझ में आता कि हिटलर के हाथों या उसकी जुबान में यह कविता समा नहीं रही है।

यह सच है कि कई बार कविताएँ अपने रचयिताओं के पाप धो डालती हैं। उनका मोह इतना प्रबल होता है कि हम उनके लेखकों के गुनाह भूलना चाहते हैं। अपने जीवन काल में सत्ता से अपने सामीप्य की वजह से हिन्दी कविता के एक बड़े दायरे में लगभग अस्वीकृत श्रीकान्त वर्मा फिर से पढ़े और उद्धृत किये जा रहे हैं और सत्ता से उनके सामीप्य की स्मृति उनके प्रति पहले जैसा तीव्र अलगाव-बोध पैदा नहीं करती। नागार्जुन की कविता से मोहग्रस्त पाठक उन पर लगे एक बेहद गम्भीर आरोप की उपेक्षा करने को तैयार हैं–और जो अभी उपेक्षा कर रहे हैं वे सम्भव है कि आने वाले कल को कुछ मद्धिम पड़ जाएँ और नागार्जुन की कविताओं को फिर से पढ़ने लगें।

लेकिन इन उदाहरणों से यह तथ्य नहीं बदलता कि कविता जितनी महत्त्वपूर्ण होती है, उतने ही महत्त्वपूर्ण उसके स्रोत होते हैं। खासकर अस्मिताओं के सन्दर्भ में यह एक बड़ी सच्चाई है। स्त्री के पक्ष में कविता कोई भी लिख सकता है, लेकिन वह स्त्री-कविता अन्ततः एक स्त्री ही लिख पाती है जिसमें उसके अनुभव की बहुत गहरी छाप हो। इसी तरह किसी दलित पीड़ा को कोई कवि रख सकता है, लेकिन पीड़ा के बहुत सूक्ष्म स्तर पर एक दलित मन क्या कुछ महसूस करता है–यह जानना किसी अन्य कवि के लिए आसान नहीं है। जंगलों से उजड़ने की पीड़ा किसी आदिवासी के भीतर जिस विकलता से प्रगट हो सकती है, किसी अन्य कवि को उसे महसूस करने में काफी वक्त लग सकता है।

यही वजह है कि अस्मितावादी विमर्श को हमें कुछ सम्मान से देखना चाहिए और हिन्दी में दलित कविता, स्त्री-कविता या आदिवासी कविता का जिक्र छिड़ने पर यह भोला-भाला तर्क नहीं देना चाहिए कि कवि तो जाति-धर्म और लिंग के परे एक अलग चेतना का स्वामी होता है और उसकी रचना को ऐसे दायरों में रखना एक संकुचित दृष्टि का परिचय देना है।

हिन्दी धीरे-धीरे मध्यवर्गीय जमातों की भाषा नहीं रह गयी है। उसकी जगह अँग्रेजी ने ले ली है। हिन्दी अब उन दलित-आदिवासी घरों के भीतर सबसे ज्यादा लिखी-पढ़ी जा रही है जहाँ बच्चे पहली बार स्कूल जा रहे हैं। यह हिन्दी का नया पर्यावरण है। बेशक, हिन्दी के इन नये पाठकों-लेखकों के लिए चुनौतियाँ दूसरी तरह की हैं। उन्हें पढ़ने को जो कुछ मिल रहा है, वह अब तक एक कुलीन दृष्टि से निर्धारित है जो उनके अनुभव संसार के बाहर भी ठहरता है। निस्सन्देह उसमें भी ऐसी सर्वव्यापी अपील है जो किसी दलित पाठक को भी छू ले, लेकिन वह उसकी जानी-पहचानी दुनिया का साहित्य नहीं है। उसमें उसके घर की घुटन, उसके भीतर के भय, उसके बाहर के उत्पीड़न की जगह नहीं है। वह यह साहित्य पढ़कर बस यह समझ पाता है कि यह महान साहित्य लिखने के लिए उसे वैसी ही महान भाषा सीखनी और लिखनी होगी। दूसरी ओर जब वह अपना अनुभव लिखता है तो उसके संवेदन-संसार के बाहर खड़ा और अरसे के अभ्यास से विकसित हुआ संवेदन-तन्त्र उसे समझने से इनकार करता है–उसे लगता है कि यह तो साहित्य नहीं है, यथार्थ का सपाट बयान है।

यह वह द्वन्द्व है जिसके बीच हिन्दी में दलित कविता लिखी और सराही या दुत्कारी जा रही है। दलित कवियों पर यह आरोप लगाना आसान है कि उनकी कविता का सौन्दर्य-बोध गैरदलित कवियों के मुकाबले फीका, अनगढ़ या बेडौल है, क्योंकि कुछ हद तक वह है भी और कुछ हद तक दलित रचना के वर्तमान वृत्तान्त की माँग भी यही है कि जब यह कविता लिखी जाये तो शिल्प को भूलकर पहले वह सत्य कह डाले जो उसके अलावा किसी और के अनुभव कोष में नहीं है। मगर ज्यादा जरूरी यह समझना है कि जो दलित-वंचित सभ्यताएँ आज अपनी कविता लिख रही हैं, कल उसमें शिल्प भी आएगा–बल्कि वह आना शुरू हो गया है। ऐसे कई कवि हैं जो अपने शिल्प के खरेपन में ऐसे समय के कवियों को टक्कर ही नहीं मात भी देते दिखाई पड़ते हैं। ऐसा करते हुए वे दलित-संवेदना की परिधि से बाहर जा रहे हैं। लेकिन असल में रचना या जीवन की अभीप्सा होनी तो यही चाहिए–दलितत्व किसी भी प्रकार का हो वह टूटे और सबको समान और सम्मान की जिन्दगी मिले। बल्कि ऐसी रचनाएँ यह समझने में भी मदद करती हैं कि दलित-संवेदना ऐसी कोई अजब-अछूती चीज नहीं है जो सिर्फ एक समुदाय के भीतर सिमटी हुई हो, वह व्यापक मानवीय संवेदना का ही हिस्सा है, उसमें से भी वह रस और अर्थ ग्रहण करती है। लेकिन जब तक उसके घाव हरे हैं, जब तक अन्याय का चाबुक उसकी पीठ पर पड़ रहा है, जब तक समाज में किसी 'अन्य'-सा सलूक उसके साथ हो रहा है, तब तक दलित कवि कविता की जगह चीख ही लिखेगा, वह मर्मभेदी हाहाकार ही लिखेगा जो उसकी आत्मा से निकले और पाठक की आत्मा में समा जाये। मगर यहाँ भी एक फाँस है। इसको समझने के लिए वह दूरी घटनी चाहिए जो साहित्य और समाज में मौजूद है। कहा जा सकता है कि हाल के दिनों में यह दूरी कुछ कम हुई है, अस्मितावादी आन्दोलन का प्रभाव है कि लोग दलित साहित्य को पहले से कहीं ज्यादा गम्भीरता से ले रहे हैं, शायद अपनी अभिव्यक्ति का लहजा भी बदल रहे हैं, लेकिन वह दिन अभी काफी दूर है जब हम यह कह सकने की स्थिति में होंगे कि जब समाज में कोई दलित नहीं है तो दलित कविता क्यों होनी चाहिए? फिलहाल तो सच यही है कि दलित हैं, उनके साथ होने वाला दुर्व्यवहार भी बना हुआ है, उनके विरुद्ध बनाये गये पूर्वग्रह भी कायम हैं, इसलिए दलित कविता को भी बचे रहना होगा।

'शम्बूक का कटा सिर' नाम की ओम प्रकाश वाल्मीकि की जिस कविता के जिक्र से यह टिप्पणी शुरू हुई थी, उसकी बिल्कुल आखिरी पंक्तियाँ कुछ इस तरह हैं– *'शम्बूक! तुम्हारा रक्त जमीन के अन्दर/समा गया है जो किसी भी दिन/फूटकर बाहर आएगा/ ज्वालामुखी बनकर!'*

यह भरोसा है जो बताता है कि हम एक दिन और बेहतर समाज बनाएँगे, और बेहतर कविताएँ लिखेंगे।

■

उच्च शिक्षा में सुधार की दिशा

रसाल सिंह

जन गण मन

आज अधिकांश कॉलेज और विश्वविद्यालय राजनीति के अखाड़े बन गये हैं। यह अति-लोकतान्त्रिकता का सह-उत्पाद (बाइ-प्रॉडक्ट) है। निर्वाचित विधायी संस्थाओं और लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं की आड़ में निहित स्वार्थ जी भर राजनीति का खेल खेलते हैं और प्रावधानों का भरपूर दोहन और दुरुपयोग करते हैं। परिणामस्वरूप, शिक्षक समुदाय कर्तव्य-विमुख और अति अधिकार-सचेत भीड़ बनता जा रहा है। यह स्थिति स्वस्थ और शुभकर नहीं है।

लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के रामानुजन कॉलेज में प्राचार्य हैं।
+918800886847
rasal_singh@yahoo.co.in

6 जनवरी, 2025 को केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री धर्मेन्द्र प्रधान ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष प्रो. एम. जगदेश कुमार की उपस्थिति में ड्राफ्ट रेगुलेशन-2025 जारी किया था। यह उच्च शिक्षण संस्थानों में शिक्षकों और अन्य शैक्षणिक कर्मियों की नियुक्ति और प्रोन्नति सम्बन्धी न्यूनतम अर्हता सुनिश्चित करने और उनकी सेवा-शर्तों, शिक्षण एवं शोध कार्यभार, पेशेवर आचार-संहिता आदि से सम्बन्धित है। इस मसौदे पर फीडबैक/प्रतिक्रिया देने के लिए हितधारकों से सुझाव माँगने, उन पर विचार-विमर्श करके नियमावली को अन्तिम रूप देने की विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की यह पहल स्वागत-योग्य और सराहनीय है। पर आठवें वेतन आयोग की घोषणा के महज 10 दिन पूर्व ड्राफ्ट रेगुलेशन-2025 का जारी किया जाना समस्त हितधारकों को हतप्रभ करता है और उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में गम्भीरता, निरन्तरता और दूरगामी दृष्टि (विजन) के अभाव को इंगित करता है।

उल्लेखनीय है कि केन्द्र सरकार द्वारा गठित/घोषित प्रत्येक वेतन आयोग की संस्तुतियों के मद्देनजर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग उच्च शिक्षा क्षेत्र से सम्बन्धित शिक्षकों और अन्यान्य कर्मियों की सेवा-शर्तों, वेतन-भत्तों आदि के सम्बन्ध में पुनरीक्षण समिति का गठन करके उन्हें अद्यतन और समीचीन बनाता रहा है।

साथ ही, अभी तक रेगुलेशन-2018 को ही लागू करने की कवायद जारी है। इसलिए यह अवसर यू.जी.सी. रेगुलेशन-2018 की विसंगतियों (एनोमलीज) को दुरुस्त करने का था। 4-5 वर्ष के अन्दर एकदम से आमूल-चूल परिवर्तन करते हुए नयी नियमावली का मसौदा जारी करना समस्त हितधारकों को चिन्तित और भ्रमित करता है। नीतिगत तात्कालिकता और अस्थिरता से व्यवस्था-तन्त्र बर्बाद होता है। रेगुलेशन-2018 की विसंगतियों/समस्याओं पर विचार करने और उनका समाधान करने के लिए कई साल पहले एक एनोमलीज कमिटी बनायी गयी थी। लेकिन आज तक उसकी रपट का कोई अता-पता नहीं है।

इधर, घोषित मसौदे में प्रतिभाओं के संरक्षण और प्रोत्साहन का दावा तो किया गया है, लेकिन उसका कोई विश्वसनीय और सुचिन्तित रोडमैप दिखाई नहीं पड़ता है। उच्च शिक्षा परिदृश्य को प्रतिस्पर्धी और पेशेवर बनाने के लिए प्रतिभाशाली और परिश्रमी लोगों के लिए 'मीडियोकरों' से अलग प्रावधान किये जाने चाहिए। ड्राफ्ट रेगुलेशन में शिक्षकों की नियुक्ति में स्नातक और स्नातकोत्तर के विषय की महत्ता कम करते हुए पी-एच.डी. वाले विषयों में नियुक्ति की छूट दी गयी है। अन्तर-अनुशासनिकता को प्रोत्साहित करने के लिए प्रस्तावित यह निर्णय अकादमिक जगत में अराजकता की शुरुआत करेगा। यह विषय विशेष से पढ़े हुए अभ्यर्थियों को अन्य विषय में शिक्षक बनने का रास्ता खोल देगा। चार वर्षीय स्नातक करने वाले छात्रों को भी कॉलेजों/विश्वविद्यालयों में शिक्षक बनने का अवसर देना अकादमिक गुणवत्ता में गिरावट लाएगा। रेगुलेशन-2018 में विश्वविद्यालय में शिक्षक बनने के लिए पी-एच.डी. की अनिवार्यता का प्रावधान किया गया था, क्योंकि विश्वविद्यालय के शिक्षकों को अध्यापन से अधिक शोध-कार्य करना होता है। इस प्रावधान को विभिन्न आदेश-पत्रों के माध्यम से टाला जाता रहा और अन्ततः समाप्त कर दिया गया है। विश्वविद्यालय में शिक्षकों की नियुक्ति में पी-एच.डी. की अनिवार्यता आवश्यक होनी चाहिए। उन्हें स्नातकोत्तर स्तरीय छात्रों को पढ़ाना और लघु शोध परियोजनाओं पर काम कराना होता है। वे कोर्स वर्क के तहत पी-एच.डी. शोधार्थियों को शोध प्रविधि, शोध/प्रकाशन सम्बन्धी नैतिकता आदि पाठ्यक्रम पढ़ाते हैं और उन्हें शोध कराते हैं। भला चार वर्षीय स्नातक या स्नातकोत्तर किये हुए प्राध्यापक ऐसा कैसे करा पाएँगे?

राष्ट्रीय पात्रता परीक्षा (नेट) और ए.पी.आई. की अनिवार्यता के सम्बन्ध में भी बार-बार नीति/निर्णय में परिवर्तन होता रहा है। प्रकाशन की गुणवत्ता के सम्बन्ध में केअर लिस्टेड/स्कोपस इण्डेक्स्ड जर्नल की अनिवार्यता की आवाजाही भी लगी रहती है। यू.जी.सी. केअर लिस्टेड जर्नलों की सूची में भी बार-बार

बदलाव किया जाता रहा है। अब उसकी भी समाप्ति कर दी गयी है।

पुस्तक के अध्यायों को ही शोध-पत्रों के समकक्ष दर्जा दे दिया गया है। यह चिन्ताजनक है। यह निर्णय स्तरीय शोधकार्य की कब्रगाह साबित होगा। नीति/निर्णयों में बार-बार परिवर्तन और लगातार छेड़छाड़ अनिश्चितता ही पैदा करती है। दरअसल, कॉलेज के शिक्षक और विश्वविद्यालय के शिक्षक का काम काफी हद तक अलग होता है। इसीलिए कॉलेज के शिक्षक की प्रोन्नति को पठन-पाठन केन्द्रित और विश्वविद्यालय के शिक्षक की प्रोन्नति को शोध केन्द्रित बनाया जाना चाहिए। सामान्य से बहुत अच्छा कार्य करने वाले और विशेष उपलब्धियाँ अर्जित करने वालों के लिए अतिरिक्त इंक्रीमेण्ट, समय-पूर्व प्रोन्नति जैसे प्रावधान किये जाने चाहिए। शिक्षकों की आठ घण्टे संस्थान में अनिवार्य उपस्थिति सम्बन्धी प्रावधान भी अनुचित है। इससे गुणवत्ता और उत्पादकता नकारात्मक रूप से प्रभावित होगी। संस्थान की उत्पादकता बढ़ाने, पठन-पाठन प्रक्रिया को सुचारु और रोचक बनाने के लिए सकारात्मक वातावरण बनाना आवश्यक है। यह सुनिश्चित करने के लिए उसके 'हैप्पीनेस इण्डेक्स' को बढ़ाने पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

अधिकांश कॉलेज और विश्वविद्यालय राजनीति के अखाड़े बन गये हैं। यह अति-लोकतान्त्रिकता का सह-उत्पाद (बाइ-प्रोडक्ट) है। निर्वाचित विधायी संस्थाओं और लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं की आड़ में निहित स्वार्थ जी-भर राजनीति का खेल खेलते हैं और प्रावधानों का भरपूर दोहन और दुरुपयोग करते हैं। परिणामस्वरूप, शिक्षक समुदाय कर्तव्य-विमुख और अति अधिकार-सचेत भीड़ बनता जा रहा है। यह स्थिति स्वस्थ और शुभकर नहीं है।

अभ्यर्थी के विभिन्न अकादमिक परीक्षाओं के अकादमिक परिणाम, शोध-कार्य और प्रकाशन आदि को महत्त्व देने और साक्षात्कार की भूमिका सीमित करने के सम्बन्ध में भी कोई पारदर्शी, वस्तुपरक और न्यायसंगत नीति नहीं बनायी गयी है। सर्वशक्तिमान चयन-समिति केन्द्रित नियुक्ति-प्रक्रिया को समय और सुविधानुसार तोड़ा-मरोड़ा जाता रहा है। वस्तुपरकता, पारदर्शिता, नीतिगत निरन्तरता और दूरदर्शिता का अभाव उच्च शिक्षा का श्मशान घाट है। एक बार फिर अभ्यर्थी की अकादमिक उपलब्धियों को नजरन्दाज करते हुए वायवीय, अस्पष्ट और अमूर्त मानकों के आधार पर उसका मूल्यांकन करने का अधिकार चयन समिति को दे दिया गया है। अकादमिक उपलब्धियों सम्बन्धी वस्तुपरक और सुपरिभाषित मानदण्डों के स्थान पर नियुक्ति-प्रक्रिया को चयन समिति केन्द्रित बना दिया गया है। प्रकाशन की गुणवत्ता के निर्धारण से लेकर अन्तिम चयन तक वही सर्वशक्तिमान होगी। यह किसी से छिपा नहीं है कि अकादमिक दुनिया जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाई-भतीजावाद और परिवारवाद से सड़ान्धग्रस्त है। अकादमिक उपलब्धियों से इतर साम, दाम, दण्ड, भेद आदि हथकण्डे ही प्रायः नियुक्ति का आधार बनते हैं।

विषाक्त और भ्रष्ट व्यवस्था ने युवा पीढ़ी को परिश्रम और पढ़ाई-लिखाई से विमुख कर दिया है। सेटिंग-प्लॉटिंग, नेटवर्किंग और बटरिंग जैसे दाँव-पेंच उच्च शिक्षा में सफलता की गारण्टी बनते जा रहे हैं। शोधार्थी/अभ्यर्थी पुस्तकालयों और प्रयोगशालाओं की जगह शिक्षक संगठनों और नेताओं की 'गुलामीगिरी' कर रहे हैं। उनके मन में यह बात बैठ गयी है कि उनका कारिन्दा या कार्डहोल्डर होना ही कल्याणकर है। पॉवरब्रोकर भाग्यविधाता बन बैठे हैं। उँगलियों पर गिनने लायक व्यक्ति, संगठन और संस्थान ही इस महामारी से बचे हुए हैं। इस प्रकार के हथकण्डों को अपनाकर नियुक्ति पाने वाले सिफारिशी 'आचार्य' कैसा और कितना पढ़ाएँगे? गुलामी करके नौकरी पाने वाले कितना स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन और शोध करेंगे; यह विचारणीय है। असंख्य युवाओं को पी-एच.डी. कराने का औचित्य भी समझ से परे है। इस परिदृश्य को बदलने की जरूरत है। योग्यतम व्यक्ति को शिक्षण का दायित्व देकर और पठन-पाठन के अनुकूल परिस्थितियाँ और वातावरण बनाकर ही विकसित भारत के संकल्प को साकार किया जा सकता है।

उच्च शिक्षा क्षेत्र जिस दिशा में जा रहा है, अगर तत्काल हस्तक्षेप करके उसका दिशा परिवर्तन नहीं किया गया तो सरकारी कॉलेज और विश्वविद्यालय सरकारी स्कूलों की तरह उजड़ जाएँगे। आज सरकारी स्कूलों में मजदूरों और मजबूरों के ही बच्चे पढ़ते हैं। वे वहाँ मिड डे मील, मुफ्त ड्रेस, किताब-कॉपी और वजीफे के लालच में नामांकन कराते हैं। क्या हम चाहते हैं कि हमारे देखते-देखते हमारे कॉलेज और विश्वविद्यालय भी वीरान हो जाएँ? आज मध्यवर्गीय अभिभावक अपने बच्चों को प्रतिष्ठित रहे सरकारी विश्वविद्यालयों की जगह विदेशी विश्वविद्यालयों या प्राइवेट विश्वविद्यालयों में भेजने लगे हैं। यह सरकारी संस्थानों से प्रतिभा पलायन का प्रारम्भ है। इन विदेशी विश्वविद्यालयों/प्राइवेट विश्वविद्यालयों की फीस प्राइवेट स्कूलों की ही तरह है। लेकिन मरता, क्या न करता...! लोग अपने बच्चों का भविष्य बनाने की चाह में अपना पेट और जेब दोनों कटवाने को विवश हैं। जो समर्थ हैं, समृद्ध हैं वे तो अपने बच्चों को अच्छे निजी या विदेशी विश्वविद्यालयों में पढ़ा लेंगे। लेकिन गरीब, किसान, मजदूर, दलित, पिछड़े कहाँ जाएँगे? क्या सरकारी संस्थानों के उजड़ने से इन समुदायों के जीवन में फिर अज्ञानता, अन्धविश्वास और अँधेरा नहीं पसर जाएगा?

अलग-अलग संस्थान अपनी-अपनी दुकानों में 'स्वायत्तता' के नाम पर मनमानी कर रहे हैं। स्वायत्तता अकादमिक गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए दी गयी थी, किन्तु समयान्तराल में उसकी आड़ में नियुक्तियों की बन्दरबाँट ही हुई है। इस खुले खेल के दुष्प्रभावों से समूचा उच्च शिक्षा क्षेत्र गन्धा गया है। वर्तमान नियुक्ति प्रक्रिया में सर्वाधिकार सम्पन्न चयन समिति के सदस्य अपने छात्रों/शोधार्थियों का झटपट साक्षात्कार लेते हैं और तुरत 'मेरिट' का आकलन करते हुए उनका चयन कर लेते हैं। क्या उस व्यवस्था में निष्पक्षता और न्याय सम्भव है जहाँ साक्षात्कार लेने वाला और देने वाला एक-दूसरे को वर्षों से जानते हैं? साक्षात्कार देने वाले, लेने वाले या उसके गिरोह के घर में राशन-पानी पहुँचाने, रेल/जहाज के टिकिट कराने, मुखबिरी और जी-हुजूरी करने में तथा पोस्टर-पैम्पलेट चिपकाने/बाँटने और नारेबाजी/अड्डेबाजी में सिद्धहस्त होते हैं। वे न सिर्फ 'सर' की बल्कि 'मैडम' की भी सेवा-चाकरी करते हैं। इन भावी/नव आचार्यों की महारत है। अकादमिक जगत के ये नव-लठैत शिक्षा-व्यवस्था को सुबह से शाम तक लहूलुहान करते रहते हैं।

वेण्टिलेशन पर पड़ी उच्च शिक्षा को अगर बचाना है तो संघ लोक सेवा आयोग की तर्ज पर तत्काल राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त योग्यतम और प्रतिष्ठित लोगों के नेतृत्व में भारतीय उच्च

शिक्षा सेवा आयोग बनाकर नियुक्ति-प्रक्रिया उसके हवाले की जानी चाहिए। या फिर यह जिम्मेदारी संघ लोक सेवा आयोग को भी दी जा सकती है। केन्द्र सरकार से अनुदान प्राप्त सभी संस्थानों को इसके दायरे में लाया जाना चाहिए। इन सभी संस्थानों से रिक्तियों का विवरण माँगकर साल में एक बार विज्ञापन आना चाहिए और साल में एक बार लिखित परीक्षा और साक्षात्कार किया जाना चाहिए। नियुक्ति में 50 प्रतिशत अधिभार लिखित परीक्षा, 30 प्रतिशत अधिभार समस्त अकादमिक उपलब्धियों, और 20 प्रतिशत अधिभार साक्षात्कार को दिया जाना चाहिए। पूरी नियुक्ति-प्रक्रिया को कोडेड बनाकर गोपनीयता सुनिश्चित की जानी चाहिए। सफल अभ्यर्थियों को मेरिट सूची में उनके स्थान, कॉलेजों/विश्वविद्यालयों को उनके द्वारा दी गयी वरीयता और उनके स्थायी निवास-स्थान आदि के समेकित अधिभार के आधार पर नियुक्ति दी जानी चाहिए। सत्र के बीच में कोई रिक्ति आने पर प्रतीक्षा सूची में से नियुक्ति की जानी चाहिए ताकि एडहॉक, अनुबन्ध और गेस्ट नियुक्तियों वाली अमानवीय व्यवस्था बन्द हो सके। इससे न सिर्फ गुणवत्ता सुनिश्चित होगी, बल्कि धन और समय की भी बचत होगी। अभ्यर्थी नौकरी के विज्ञापनों की दैनन्दिन खोज, असंख्य फॉर्म भरने की जद्दोजहद और नियमित 'साक्षात्कार' देने की जलालत से बच सकेंगे।

ड्राफ्ट रेगुलेशन में प्राचार्य पद को भी स्नातक कॉलेज और स्नातकोत्तर कॉलेज के आधार पर बाँटकर प्राचार्य की अर्हता और वेतन को अलग-अलग कर दिया गया है। स्नातक कॉलेजों के प्राचार्य को पे मैट्रिक्स में लेवल 13 ए में रखा गया है। शिक्षण अनुभव भी मात्र 10 वर्ष कर दिया गया है। जिस कॉलेज में दर्जनों लोग लेवल 14 में होंगे वहाँ संस्थान प्रमुख को उनसे नीचे के वेतनमान में रखना अनुचित है। यह पद की गरिमा और प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है।

साथ ही, स्नातकोत्तर कॉलेजों में भी कक्षाएँ तो स्नातक की ही होती हैं, स्नातकोत्तर छात्रों का तो वहाँ नामांकन ही होता है। उनकी कक्षाएँ प्रायः विश्वविद्यालयों में ही होती हैं। इसलिए यह वर्गीकरण बेतुका है।

आजकल प्रत्येक कॉलेज में लेवल 14 वाले अनेक प्रोफेसर होते हैं। इसलिए संस्थान प्रमुख/प्राचार्य के कार्यभार और जिम्मेदारियों को देखते हुए उसे उनसे एक दर्जा ऊपर लेवल 15 में रखा जाना चाहिए। प्राचार्य के कार्यकाल को मात्र 5 वर्ष के लिए सीमित कर दिया गया है। 5 वर्ष का दूसरा कार्यकाल पाने के लिए फ्रेश प्रक्रिया अपनाने की प्रस्तावना है। यह निर्णय संस्थान में नीतिगत निरन्तरता और स्थिरता की समाप्ति करते हुए अस्थायी नीतियों और तात्कालिकता को प्रोत्साहित करेगा। दूरदर्शी, दूरगामी और सुचिन्तित नीतियों, विकास योजनाओं और सांस्थानिक लक्ष्यों को बाधित करेगा। स्थायी शिक्षक और शिक्षणेतर कर्मियों वाले संस्थानों में अ-स्थायी/ अल्पावधि नेतृत्व होने से अराजकता और अनुशासनहीनता बढ़ेगी और 'कामचलाऊ' वातावरण बनेगा। पठन-पाठन नकारात्मक रूप से प्रभावित होगा। संस्थान के चतुर्दिक विकास के लिए नेतृत्व की क्षमता, योग्यता, स्थिरता और कार्यकाल सम्बन्धी सुरक्षा आवश्यक है। मजबूर नहीं, मजबूत प्रशासक ही संस्थान का कायाकल्प कर सकता है। प्राचार्य का पहला कार्यकाल 10 वर्ष करते हुए प्रत्येक 5 वर्ष पर उसके कार्य/प्रदर्शन की समीक्षा का प्रावधान किया जा सकता है। प्राचार्य पद हेतु न्यूनतम शिक्षण अनुभव 20 वर्ष, प्रशासनिक अनुभव 5 वर्ष और न्यूनतम आयु 50 वर्ष की जानी चाहिए। यू.जी.सी. से अनुदान प्राप्त सभी कॉलेजों के प्राचार्यों और सभी केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की नियुक्ति-प्रक्रिया को भी केन्द्रीकृत करने की आवश्यकता है। इससे समय, धन और संसाधनों की बचत होगी। इस प्रक्रिया में सामाजिक न्याय के प्रावधानों का भी अनुपालन किया जाना चाहिए।

ड्राफ्ट रेगुलेशन में कुलपति के रूप में शिक्षाविदों के अलावा उद्यमियों, प्रशासन/पुलिस/सेना के अधिकारियों, कम्पनियों के प्रबन्धकों आदि को चुनने की भी प्रस्तावना की गयी है। यह निर्णय प्रतिगामी होगा। इसकी जगह अकादमिक प्रशासन में उपलब्धियाँ हासिल करने वाले अनुभवी संस्थान-निर्माताओं को कुलपति के रूप में चुना जाना चाहिए। संस्थान को बनाने/विकसित करने वाले दृष्टि सम्पन्न कुलपतियों के लिए भी कार्य-समीक्षा के आधार पर दूसरे कार्यकाल का प्रावधान किया जाना चाहिए।

कुलपतियों की नियुक्ति को राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त करने के लिए राष्ट्रपति, शिक्षा मन्त्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग/ भारतीय उच्च सेवा आयोग के अध्यक्ष और विश्वविद्यालय की सर्वोच्च शासी परिषद् के प्रतिनिधि की पाँच सदस्यीय समिति होनी चाहिए। इसी तरह की समिति राज्यस्तर पर भी बनायी जानी चाहिए।

उच्च शिक्षा क्षेत्र में तीन आयाम (वर्टिकल) बनाये जाने चाहिए–अध्यापन/ शिक्षण, शोध/अनुसन्धान और अकादमिक प्रशासन। शिक्षकों को कैरियर प्रारम्भ करते ही प्रतिभा, योग्यता और अभिरुचि के आधार पर क्रमशः इन तीन में से एक में प्रशिक्षित और विकसित किया जाना चाहिए। हमारे देश में अकादमिक प्रशासन को अत्यधिक हल्के में लिया जाता है और किसी भी आचार्य को प्राचार्य या कुलपति बनाने की रवायत है। जबकि अकादमिक प्रशासन अत्यन्त चुनौतीपूर्ण क्षेत्र है। यह विशेषज्ञता, अनुभव और प्रशिक्षण की माँग करता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के घोषित लक्ष्य के अनुरूप अगर भारत में अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के शिक्षण संस्थान बनाने/विकसित करने हैं, विश्वगुरु और विकसित भारत के स्वप्न को साकार करना है, और हमें उच्च शिक्षा क्षेत्र में लम्बी लकीर खींचनी है तो दूरगामी और दूरदर्शी नीति-निर्माण करना होगा।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को रेगुलेशन-2018 की विसंगतियों को दूर करने पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और नवगठित आठवें वेतन आयोग के आलोक में अनुभवी संस्थान निर्माता शिक्षाविदों की समिति गठित करके उपर्युक्त सुझावों के मद्देनजर व्यापक विचार-विमर्श करते हुए उच्च शिक्षा क्षेत्र में सुधार की दिशा में काम करने की आवश्यकता है। विकसित भारत की लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उच्च शिक्षा क्षेत्र हेतु 2047 तक का दूरगामी रोडमैप बनाते हुए उसका चरणबद्ध क्रियान्वयन किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 युगान्तरकारी पहल है। इसके क्रियान्वयन में आने वाली चुनौतियों को समझते हुए आवश्यक संसाधन मुहैय्या कराने, आधारभूत ढाँचा विकसित करने, छात्र-शिक्षक अनुपात बढ़ाने और भारतीय भाषाओं में स्तरीय पाठ्य-सामग्री उपलब्ध कराने का काम भी प्राथमिकता के आधार पर किया जाना चाहिए।

■

कृष्णा सोबती का स्त्री विमर्श

कुमारी उर्वशी

कृष्णा सोबती, जिन्हें हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण लेखिका माना जाता है, ने कभी खुद को 'लेखिका' के रूप में नहीं पहचाना, बल्कि वह लेखन में लिंग भेदभाव को नकारते हुए खुद को 'लेखक नागरिक' मानती थीं। उनकी लेखन यात्रा 23 साल की उम्र से शुरू हुई, और उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ लिखीं, जैसे 'मित्रो मरजानी', 'जिन्दगीनामा', और 'समय सरगम'। उन्हें विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित किया गया और उन्हें हिन्दी साहित्य की पहली फेमिनिस्ट लेखिका के रूप में भी जाना जाता है।

लेखिका हिन्दी विभाग, राँची विमेंस कॉलेज, राँची में सहायक प्राध्यापिका हैं।
+919955354365
urvashiashutosh@gmail.com

कृष्णा सोबती की रचनाओं में समाज की रूढ़िवादिता और स्त्रियों के यौनिकता के अधिकार को चुनौती दी गयी है। उनकी नायिका मित्रो, जो अपने प्रेम और यौनिकता के प्रति स्वतन्त्र और सहज है, समाज की धारणाओं को तोड़ती है। सोबती के पात्र जीवन की गहरी सच्चाइयों और संघर्षों को उजागर करते हैं, जैसे 'मित्रो मरजानी' की मित्रो, 'डार से बिछुड़ी' की पाशो, और 'ए लड़की' की माँ। उनके लेखन ने न केवल स्त्रियों की स्वतन्त्रता को प्रमुखता दी, बल्कि समाज में व्याप्त असमानता और रूढ़िवादिता को चुनौती दी। कृष्णा सोबती के विचार और उनके पात्र आज भी हमें अपनी सोच और पहचान पर सवाल उठाने के लिए प्रेरित करते हैं।

कृष्णा सोबती, हिन्दी की प्रसिद्ध लेखिका, ने अपने लेखन के जरिये भारतीय समाज, महिलाओं की स्थिति और राजनीति के विविध पहलुओं को उजागर किया। उनका जन्म 18 फरवरी, 1925 को हुआ था और उन्होंने अपना जीवन दिल्ली में बिताया। उनका उपन्यास 'जिन्दगीनामा' 1980 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित हुआ। उन्होंने अपने लेखन में ग्रामीण महिलाओं के जीवन और ग्राम्य-यौनिकता का सटीक चित्रण किया, और भारतीय भाषाओं का सुन्दर प्रयोग किया। उनकी रचनाएँ साहित्य में क्रान्ति लेकर आयीं, खासकर 'मित्रो मरजानी' ने साहित्यिक समाज में हलचल मचायी। कृष्णा सोबती की दरियादिली का उदाहरण उनके दान से भी मिलता है, जब उन्होंने अपने एक करोड़ रुपये और दिल्ली के फ्लैट को रजा फाउण्डेशन को दान किया ताकि भारतीय लेखकों और सृजन के काम को बढ़ावा मिले। उनके लेखन और साहस का सम्मान अशोक वाजपेयी ने किया, जिन्होंने उन्हें अपने समय की सबसे बेबाक और दबंग लेखिका बताया।

बेबाक और दबंग लेखिका कृष्णा सोबती नयी कहानी के दौर की प्रमुख महिला कहानीकारों में से एक थीं, जिनका नाम मन्नू भण्डारी और उषा प्रियंवदा के साथ लिया जाता है। उन्हें अपनी बेलाग कथात्मक अभिव्यक्ति और रचनात्मकता के लिए जाना जाता है। उनकी कहानियाँ जीवन के पेंचीदा सत्य को उजागर करती हैं, और उन्होंने हिन्दी कथा भाषा को ताजगी और जीवन्तता दी। 2017 में उन्हें 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। उनकी प्रमुख कहानियाँ, संग्रह 'बादलों के घेरे' में संकलित हैं। उन्होंने लम्बी कहानियाँ भी लिखीं, जिनमें ऐ लड़की, सिक्का बदल गया, मेरी माँ कहाँ है, डार से बिछुड़ी, यारों के यार, और तिन पहाड़ जैसी कृतियाँ उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुईं। उनके प्रमुख उपन्यासों में सूरजमुखी अँधेरे में, जिन्दगीनामा, दिलोदानिश, समय सरगम, गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान और हम हशमत शामिल हैं।

कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यासों में विभाजन की यातना, स्त्री-यौनिकता और समाज के जटिल मुद्दों को बेबाकी से उठाया। 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' में उन्होंने विभाजन के दर्द और जमीन से छूटने के अनुभव को शब्द दिये, जबकि 'जिन्दगीनामा' की गुँथी हुई भाषा को खूब सराहा गया। 'मित्रो मरजानी' में नायिका ने संयुक्त परिवार में स्त्री यौनिकता जैसे विवादास्पद मुद्दे को उठाया। उनका मानना था कि रचनाएँ अकेले में लिखी जाती हैं, लेकिन वे समाज से जुड़ी होती हैं। उनका पहला उपन्यास 19वीं शताब्दी के पंजाब के संघर्षग्रस्त माहौल में लिखी गया था। कृष्णा सोबती की लेखनी ने न केवल साहित्यिक परिदृश्य को समृद्ध किया, बल्कि समाज की जटिलताओं को उजागर किया।

कृष्णा सोबती की कहानियों के संग्रह 'बादलों के घेरे' में तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं। एक ओर वे प्रेम और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की किंवदन्तियों को नयी कहानी की परम्परा से जोड़ती हैं, तो दूसरी ओर स्त्री की यातना और पीड़ा को सामाजिक सन्दर्भ में चित्रित करती हैं। तीसरी प्रवृत्ति में वे देश-विभाजन और साम्प्रदायिकता की त्रासदी को उजागर करती हैं। सिक्का बदल गया में कृष्णा सोबती ने विभाजन के भयावह समय की सच्चाई को मानवीय संवेदनाओं के हर स्तर पर छूते हुए प्रस्तुत किया।

उनका उपन्यास 'हम हशमत' समकालीन जीवन का लम्बा आख्यान है, जिसमें हर चित्र घटना और हर चेहरा कथानायक है। उनकी रचनाओं में पंजाब की ग्रामीण महिलाओं के जीवन और उनकी ग्राम्य-यौनिकता का विशिष्ट चित्रण मिलता है, जो उन्हें अपने समकालीन शहरी महिलाओं के चित्रण से अलग करता है।

कृष्णा सोबती की लेखनी में गहरी सोच और समाज के जटिल पहलुओं की समझ झलकती है। उनके शब्दों में चिनगारी होती है, जो पाठकों को सोचने और महसूस करने पर मजबूर करती है। उनका मानना था कि लेखक केवल अपनी निज की लड़ाई नहीं लड़ता, बल्कि उसे समाज और संस्कृति से जोड़कर एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना होता है। उनका साहित्य जीवन की जटिलताओं और संघर्षों से उभरता है, और यही उनके लेखन की ताकत है। उनके विचारों में शिल्प और कृति के बीच गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है, जो दर्शाता है कि हर रचना के पीछे एक अनकहा संघर्ष और मेहनत छिपी होती है।

सोबती जी के विचार, जैसे ''सेक्स हमारे जीवन का, साहित्य का महाभाव है'', यह दशार्ते हैं कि साहित्य केवल पारम्परिक नैतिकता नहीं, बल्कि मनुष्य के निजी और गहरे पहलुओं की भी छानबीन करता है। उन्होंने भाषा को एक साधन से ज्यादा, एक कला के रूप में देखा, जो उनके अनुभवों और सांस्कृतिक पहचान को व्यक्त करता है। 'जिन्दगीनामा' जैसी कृतियों में पंजाबी और पंजाबियत की चर्चा न केवल स्थानिक पहचान, बल्कि मानवीय संवेदनाओं का गहरा प्रतिबिम्ब होती है। उनकी भाषा की सहजता और अभिव्यक्ति हर पाठक को अपनी ओर खींचती है, और वह अपने लेखन में समाज की जटिलताओं को सही तरीके से उजागर करती हैं। उनकी काव्यात्मक शैली यह साबित करती है कि साहित्य केवल शब्दों का खेल नहीं, बल्कि विचारों, भावनाओं और संवेदनाओं का संगम है, जो जीवन को नया दृष्टिकोण देता है।

सोबती जी अपनी लेखनी में अद्वितीय सृजनात्मकता और काव्यात्मक विशेषता का परिचय देती हैं। उनका मानना था कि लेखन केवल व्यक्तिगत अनुभव और चेतना से उत्पन्न हो सकता है, जैसे 'जिन्दगीनामा' में यह स्पष्ट होता है। उनकी रचनाओं में स्त्री की आत्मसजगता, संघर्ष और घुटन को प्रामाणिकता से चित्रित किया गया है, विशेष रूप से नौकरीपेशा स्त्री की समस्याओं और परम्परागत समाज में उसकी छटपटाहट को। कृष्णा सोबती ने स्त्री की पीड़ा को न केवल समझा, बल्कि उसे एक आवाज दी, जो समाज की दीवारों से टकराती हुई, एक नयी दिशा की ओर बढ़ती है।

कृष्णा सोबती की कहानियों के संग्रह 'बादलों के घेरे' में तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं। एक ओर वे प्रेम और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की किंवदन्तियों को नयी कहानी की परम्परा से जोड़ती हैं, तो दूसरी ओर स्त्री की यातना और पीड़ा को सामाजिक सन्दर्भ में चित्रित करती हैं। तीसरी प्रवृत्ति में वे देश-विभाजन और साम्प्रदायिकता की त्रासदी को उजागर करती हैं। सिक्का बदल गया में कृष्णा सोबती ने विभाजन के भयावह समय की सच्चाई को मानवीय संवेदनाओं के हर स्तर पर छूते हुए प्रस्तुत किया। इस कहानी में शाहनी का अकेलापन और पुराने सम्बन्धों का टूटना विभाजन के बाद की गहरी त्रासदी को उजागर करता है, जहाँ कुछ लोग अपनी आत्मा में बची संवेदना के साथ जीते रहे थे।

सोबती जी की लेखनी में पुरानी परम्पराओं को एक नयी पहचान देने की क्षमता है। उनके साहित्य में नारी के संघर्ष, स्वतन्त्रता और अस्तित्व की खोज की गहरी छाया है, जिसमें वह समाज की मानसिकता और नीतियों से जूझती हैं। 'बादलों के घेरे में' स्त्री के अकेलेपन और पीड़ा को नये रूप में चित्रित किया गया है, जो हमारी सच्चाइयों और अनकहे भावनाओं को सामने लाता है। उनका लेखन मानवीय संवेदनशीलता से परिपूर्ण है, जो पाठकों को जीवन और समाज की नयी सच्चाइयों से परिचित कराता है। उनकी रचनाएँ नारी के स्वतन्त्रता, अस्मिता और प्रेम के प्रति समर्पण की छवि को उजागर करती हैं। उनकी लम्बी कहानियाँ नारी-पात्रों को समर्पण या समझौते के बजाय साहचर्य और प्रेम के उत्कर्ष के रूप में प्रस्तुत करती हैं। 'मित्रो मरजानी' में, सोबती ने नारी के शरीर और इच्छाओं को स्वाभाविक रूप से स्वीकार किया और उसे स्वतन्त्रता की ओर प्रेरित किया, जिससे नारी के शारीरिक और मानसिक संघर्ष को नये दृष्टिकोण से देखा जा सका।

कृष्णा सोबती की यह अद्वितीयता है कि वे नारी के भीतर के असन्तोष और संघर्ष को इतना गहरे और प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करती हैं कि उनके पात्र किसी भी पाठक के दिल में गहरी छाप छोड़ जाते हैं। उनका

लेखन न केवल स्त्री के अधिकारों की बात करता है, बल्कि सामाजिक और पारिवारिक दबावों के बीच एक स्त्री के आत्मनिर्भर होने की आवश्यकता को भी उजागर करता है। 'मित्रो' का चरित्र उसी आत्मनिर्भरता का प्रतीक है, जो अपने अस्तित्व को पहचानते हुए, अपनी इच्छाओं को पूरी करने के लिए समाज और परिवार से लड़ता है। साथ ही कृष्णा सोबती की भाषा का शिल्प भी अत्यन्त प्रभावी और जीवन्त है। उन्होंने हिन्दी कथा-भाषा को एक नयी ताजगी दी है, जिसमें जीवन की जटिलताओं को सरलता और सजीवता से चित्रित किया गया है। उनके शब्दों में वह ऐन्द्रियता और गहराई है, जो पाठकों को न केवल जुड़ने का अनुभव कराती है, बल्कि समाज और जीवन के कई पेंचीदा पहलुओं से भी अवगत कराती है। उनकी कहानियों में एकतरफा नारीवादी दृष्टिकोण की बजाय वे नारी की समग्रता–उसके शरीर, मन, इच्छाओं, और संघर्षों को समग्र रूप में प्रस्तुत करती हैं।

कृष्णा सोबती ने हिन्दी साहित्य में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जो न केवल स्त्री के अनुभवों को प्रामाणिकता से उभारता है, बल्कि जीवन के सच्चे और गहरे पहलुओं को उजागर करता है। उनके लेखन में नारी के आत्मसाक्षात्कार की छवि, उसकी अनकही इच्छाओं और संघर्षों की गाथाएँ हैं, जो आज भी पाठकों के दिलों में अपनी गहरी छाप छोड़ जाती हैं। भारत-पाकिस्तान के विभाजन की विभीषिका और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले अथाह बिछोह ने कृष्णा सोबती के सृजन की जमीन तैयार की। उनके पहले उपन्यास 'डार से बिछुड़ी' को याद करते हुए अशोक वाजपेयी ने कहा था, ''डार से बिछुड़ना जैसे कृष्णा जी के यहाँ एक अन्तर-भूत लय की तरह जिन्दगी भर चलता रहा।'' यह 'बिछोह' का अहसास ही कृष्णा जी के लेखन में हर मोड़ पर दिखाई देता है, और उनके भीतर वह कृष्णा-तत्त्व है, जो इस बिछड़ने के दर्द को भाषा और साहित्य में पकड़ने की कोशिश करता है।

आत्ममुग्धता और संकीर्ण होते सरोकारों के इस दौर में, कृष्णा सोबती उन कुछ लेखकों में से थीं जिन्होंने न केवल अपनी पीढ़ी के लेखकों को पढ़ा, बल्कि उनसे संवाद भी किया और उनके बारे में लम्बी-लम्बी चर्चाएँ कीं। उन्होंने 'मुक्तिबोध-एक सही व्यक्तित्व की तलाश में' जैसे गहरे और विचारशील लेख लिखे, जिनमें उनके 'दुनिया में मशगूल' व्यक्तित्व की एक झलक मिलती है। उनकी लेखनी में, जिस तरह से वे समाज और साहित्य के विभिन्न पहलुओं को प्रस्तुत करती थीं, वह उनकी 'हम हशमत' जैसी रचनाओं में भी सशक्त रूप से उभरता है। अशोक वाजपेयी कृष्णा जी के बारे में कहते हैं, ''कृष्णा सोबती बहुत ही दबंग और स्पन्दित महिला थीं। उन्होंने दूसरों के संग जीवन का बड़ा हिस्सा तो गुजारा, लेकिन साथ-ही-साथ उनमें अकेले पड़ जाने का भी शऊर था।'' उनका व्यक्तित्व यही दर्शाता है कि वे न केवल दूसरों के साथ संवाद करती थीं, बल्कि अपने भीतर के गहरे मौन और अकेलेपन को भी गले लगाती थीं। उनका यह साहस और आत्मविश्वास उनके लेखन में हमेशा प्रतिबिम्बित हुआ।

कृष्णा जी के उपन्यास 'चन्ना' की कहानी को बताते हुए उनके प्रकाशक अशोक माहेश्वरी कहते हैं, ''यह उपन्यास कृष्णा जी ने तीस की उम्र में लिखा था। जब इसे छपने के लिए भारतीय भण्डार लीडर प्रेस के सम्पादक वाचस्पती पाठक के पास भेजा गया, तो प्रकाशक ने कुछ पंजाबी शब्दों में बदलाव कर दिये, जो कृष्णा जी को मंजूर नहीं था। उन्होंने तुरन्त छपाई रुकवाकर किताब वापस ले ली, जिससे उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता और स्वतन्त्रता का अहसास होता है।'' यह घटना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि कृष्णा सोबती अपने सृजन को लेकर किसी भी प्रकार का समझौता नहीं करती थीं, और उनका यही साहस जीवन-भर बरकरार रहा। उनके लेखन का सिलसिला उनके जीवन के अन्तिम वर्षों तक जारी रहा। 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान तक', 'सोबती वैद संवाद', 'लेखक का जनतन्त्र', 'मार्फत दिल्ली', 'मुक्तिबोध–एक व्यक्तित्व सही की तलाश में' और 'हम हशमत' जैसे रचनात्मक कार्य उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रस्तुत करते हैं। 93 वर्ष की आयु में, मृत्यु से छह दिन पहले तक, वे लिखती, पढ़ती और अपने काम में सुधार करती रहीं।

कृष्णा सोबती का लेखन केवल शब्दों का खेल नहीं था, बल्कि यह जीवन के संघर्षों, पीड़ाओं और गहरी संवेदनाओं का प्रतिबिम्ब था। उनके लेखन में विभाजन की पीड़ा, बिछोह का दर्द और मानवता की उम्मीद हर शब्द में बसी हुई थी, जो आज भी हमें सोचने और महसूस करने के लिए मजबूर करती है। उनकी कृतियाँ न केवल भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं को उकेरती हैं, बल्कि उन्होंने एक अघोषित फेमिनिस्ट के रूप में समाज की पुरानी मान्यताओं को चुनौती दी है। उनका लेखन उस समय के स्थापित विचारों से परे जाकर एक नयी दृष्टि प्रस्तुत करता है, जहाँ महिला को अपनी स्वतन्त्रता और यौनिकता के बारे में सोचने, समझने और जीने का पूरा हक है। कृष्णा सोबती का सबसे प्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने न केवल महिला अधिकारों पर बल दिया, बल्कि उन्होंने समाज के रूढ़िवादी विचारों को भी खण्डित किया। उन्होंने न केवल एक महिला की यौनिकता और स्वाधीनता को सहजता से प्रस्तुत किया, बल्कि यह दर्शाया कि एक महिला को अपने जीवन में अपनी इच्छाओं और स्वतन्त्रता को स्वीकार करने का अधिकार है। उन्होंने यह सिखाया कि महिला का शरीर उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति है और उसे समाज की नैतिकता के हिसाब से नहीं, बल्कि अपनी इच्छाओं और स्वाभाविकता के हिसाब से जीने का हक है। कृष्णा सोबती का यह दृष्टिकोण न केवल एक लेखिका के रूप में, बल्कि एक सामाजिक विचारक के रूप में भी उन्हें स्थापित करता है। उनका लेखन समाज की गहरी समस्याओं को छूता है और अपने पात्रों के माध्यम से भारतीय समाज की यथार्थता को दर्शाता है। उन्होंने जीवन के जटिल घावों और संघर्षों को अपनी कृतियों में जीवन्त रूप में पेश किया, जिससे पाठक उनके पात्रों के साथ गहरे जुड़ जाते थे। साहित्यिक दुनिया में उनकी उपस्थिति का प्रभाव गहरा था। उनके लेखन ने उस समय के साहित्यिक समाज को झटका दिया। उनके द्वारा निर्मित पात्रों ने पाठकों के मन में सवाल उठाये, और यह साबित किया कि साहित्य में बदलाव और पुनरावृत्ति सम्भव है।

■

क्यूर-ट्रान्स की अलग-अलग कहानी

ममता

शहरनामा

लैंगिक पहचान के अन्दर भी कई परतें हैं जिसे समझने और सुलझाने में पता नहीं कितना समय लगेगा। इस संरचना के अन्दर भी वर्गीय, जातीय और धार्मिक बँटवारा भी ऐसा ही है, जैसा पहले दो लैंगिक पहचानों में है। इतने लम्बे संघर्ष और कानूनी लड़ाई के बाद भी व्यापक शहरी समाज का सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक ताना-बाना दायरा इस तीसरी 'आइडेण्टिटी' के प्रति अनभिज्ञ और अज्ञानी है तो फिर ग्रामीण समाज से कितनी अपेक्षा की जा सकती है।

देश और दुनिया में लैंगिक तौर पर दो तरह की पहचान रही है–महिला और पुरुष। परन्तु इससे इतर एक और पहचान भी स्थापित हुई जिसे एल.जी.बी.टी. के रूप में जाना जाता है। दो लैंगिक पहचान के बीच एक तीसरी लैंगिक 'आइडेण्टिटी' स्थापित करने में हजारों साल लग गये और मुकम्मल हक मिलने में पता नहीं कितना संघर्ष करना होगा। इस 'आइडेण्टिटी' की पहचान का 'संघर्ष और रचना' व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक के साथ-साथ राजनैतिक स्तरों पर हुआ और अभी भी जारी है।

शाहिदा, वहीदा और मैं बचपन के दोस्त रहे हैं। हम तीनों एक ही मुहल्ले में रहते हैं और तीनों में बचपन से काफी दोस्ती है। हम तीनों की खेल और पढ़ाई साथ-साथ हुई। हम तीनों का पहनावा भी एक ही तरह का रहा है, बारहवीं तक एक ही स्कूल में पढ़े हैं। बारहवीं कक्षा के बाद हम लोग अलग-अलग हो गये थे। मैंने स्नातक करने के लिए नियमित कॉलेज में नामांकन ले लिया और वह ओपन से पढ़ाई करने लगीं। कॉलेज और घर के कामों में व्यस्तता की वजह से उससे मिलना-जुलना कुछ कम हो गया। फिर भी कॉलेज आते-जाते हम मिल ही जाते थे। एक दिन एक दोस्त ने बताया कि शाहिदा और वहीदा, 'दोनों रिश्ते में हैं'। वहीदा हम दोनों की सहपाठी है। हम तीनों 12 तक एक ही कक्षा में थी। वहीदा दिखने में सामान्य परन्तु बहुत खूब-सूरत लड़की है। वह अपने घर में सबसे बड़ी लड़की है जिसकी वजह से घर की जिम्मेवारी भी उसके ऊपर है। मैं सुनकर हैरान हो गयी क्योंकि जहाँ तक मैं जानती थी ऐसा तो कुछ नहीं था अगर होता तो शायद शाहिदा मुझे तो जरूर बताती। मैं उसकी गहरी दोस्त हूँ और मुझ पर वह बहुत विश्वास करती थी। और करें भी क्यूँ ना आखिर हम दोनों का पारिवारिक रिश्ता भी तो है। एक दिन शाहिदा से मुलाकात हुई तो उसने आश्चर्य भरी जुबान से मुझे बताया कि–''मैं और वहीदा रिश्ते में हैं''। विगत 6 वर्षों से हम दोनों रिश्ते में हैं और हम दोनों ने भविष्य के बारे में भी योजना बनायी है। मैं बस हक्का-बक्का रह गयी कि ये चल क्या रहा है? मैंने उससे पूछा कि तू जो बोल रही है, वह सही है? क्या तू होश में भी है? क्योंकि मुझे यह पता है कि वहीदा का रिश्ता सचिन नामक व्यक्ति से है। मुझे उस समय तो कुछ समझ नहीं आया क्योंकि मुझे एल.जी.बी.टी. के बारे में कुछ पता ही नहीं था। इसलिए मैं बहुत ज्यादा उलझन में पड़ गयी थी। क्योंकि वहीदा को मैं पहले से जितना जानती थी उससे लगा कि वह बाय-सेक्सुअल है। अब जो जानकारी मिली उससे यह पता लगा कि शाहिदा का वहीदा से रिश्ता है और वहीदा का शाहिदा और सचिन दोनों से। क्या करूँ मैं? कैसे समझूँ? खैर

लेखिका समाज-कार्य विषय से एम.ए. कर रही हैं और पीपुल्स रिसोर्स सेण्टर (पी.आर.सी.) दिल्ली से जुड़ी हैं।
+919711379153
mamtak9711@gmail.com

मैं कुछ वर्षों से सामाजिक संस्थानों के साथ जुड़कर काम कर रही हूँ जिसके माध्यम से मैं तो इसके बारे में कुछ समझ पायी हूँ। परन्तु शाहिदा को तो इस बारे में ज्यादा समझने का मौका ही नहीं मिला है, क्योंकि विगत 4 सालों के दौरान मैंने शाहिदा में बहुत कुछ बदलते देखा है। बदलाव के साथ-साथ उसे गहरी सोच में डूबते हुए भी देखा है।

शाहिदा कुछ समय पहले कम्प्यूटर टीचर थी और मुहल्ले के बच्चों को कम्प्यूटर चलाना सिखाया करती थी। वह काफी जिम्मेवार लड़की है और हर तरह की जिम्मेवारी को वह निभाती है और वह अभी भी निभा रही है। कोविड के कारण उसका काम छूट गया और वह तनाव में रहने लगी। वहीदा और शाहिदा के बीच भी जिम्मेवारी और पैसे को लेकर तनाव पैदा हो गया। वहीदा भी एक बुटीक चलाया करती थी जिसके माध्यम से वह अपना और अपने लोगों का खयाल अच्छे से रख पाती थी। फिर भी वह शाहिदा को हद से ज्यादा पैसे से मदद के लिए जोर डाला करती थी। शाहिदा हमेशा मेरे पास भरी हुई मन से आती थी, जितना भी उसके दिमाग और मन में गुस्सा भरा हुआ रहता, वह सब कुछ मुझ पर उड़ेल दिया करती थी और आज भी वह यही करती है। तीन साल पुरानी बात है। रात के 12 बज रहे थे। उसने मुझे रोते हुए फोन किया, मैं तो डर गयी कि वह इतना क्यों रो रही है? क्या हुआ है? उसने बताया कि मैं वहीदा के मुहल्ले में हूँ। उसने इतना ही बोला तो मैं समझ गयी कि वहीदा को लेकर ही कुछ हुआ होगा। मैंने अपने घरवाले को यह बताया कि मैं कुछ समय बाद आती हूँ, अभी शाहिदा के पास जा रही हूँ। मेरे घरवाले शाहिदा से भलीभाँति परिचित हैं लेकिन उन्हें शाहिदा की अन्दरूनी बदलाव के बारे में पता नहीं है। मैं तुरन्त शाहिदा के पास पहुँची तो वह खूब बिलख-बिलखकर रो रही थी। आज भी वह रात मुझे याद है कि किस तरह रो रही थी मुझे देखते ही उसने मुझे गले से लगा लिया। उसकी दोनों आँखें रोते-रोते सूज गयी थीं। ना जाने वह उस पेड़ के पास कितने घण्टों से बैठी थी? अगर मैं सुन पाती तो वह पेड़ बता सकता था कि शाहिदा कब से रो रही है? उसको शान्त करने की कोशिश की, पर उसके अन्दर इतना कुछ भरा हुआ था। जो साफ-साफ बता रहा था कि वह लड़की 'लड़के जैसी भावना महसूस करती है' उसके लिए यह कितना मुश्किल है? वह जिस इलाके में रहती है। वह निम्न आय-वर्ग का इलाका है इस इलाके में ऐसा कुछ नहीं होता है। यह दिल्ली का एक पुनर्वास बस्ती है और मुस्लिम बहुल इलाका। जहाँ ऐसी भावना रखना रीति-रिवाज और धर्म के खिलाफ माना जाता है। जहाँ शाहिदा और उसकी तरह की सोच रखने वालों की कोई जगह नहीं है। शाहिदा को समझाने और शान्त करने में काफी देर लगा। कुछ तर्क-वितर्क के माध्यम से उसे शान्त तो करा दिया पर वह उस जगह से निकलने के लिए तैयार नहीं हो रही थी, क्योंकि उसे बस आयशा से बात करनी थी। परन्तु वहीदा इस वक्त कुछ सुनना नहीं चाहती थी, ना ही वह घर से बाहर आना चाहती थी। मैंने भी उसके घरवालों से आग्रह किया परन्तु वे कुछ सुनने को तैयार नहीं थे, कि वह ऐसा क्यों कर रही है।

शाहिदा और वहीदा दोनों इस बात से अनजान हैं कि शाहिदा लेसबियन है और वहीदा बाय-सेक्सुअल। मैं किसी तरह उसे वहाँ से निकालकर ले आयी और हनुमान मन्दिर के किनारे से जाने वाली नहर की पुलिया पर घण्टों बैठे रहे।

शाहिदा और वहीदा दोनों इस बात से अनजान हैं कि शाहिदा लेसबियन है और वहीदा बाय-सेक्सुअल। मैं किसी तरह उसे वहाँ से निकालकर ले आयी और हनुमान मन्दिर के किनारे से जाने वाली नहर की पुलिया पर घण्टों बैठे रहे। उसने अपनी मन की सारी बातें मुझे कह डाली कि मैंने वहीदा के लिए कितना कुछ किया। कभी अपने बारे में नहीं सोचा, बस हमेशा उसको खुश रखा, उसने जो बोला मैंने वही किया। फिर भी ना जाने लड़कों के पीछे क्यों भटकती रहती है। अब मैं उसे कैसे समझाती कि तुम दोनों के पास आपसी समझदारी नहीं है। वह इतना भाव-विह्वल थी कि अपने रिश्ते के बारे में कोई भी तार्किक नजरिये से बात करना उसे मंजूर नहीं था। वह खुद से ज्यादा मुझ पर भरोसा करती थी इसलिए मुझसे निजी जिन्दगी के हर पल भी साझा किया करती थी। मैं उसकी पीड़ा भली-भाँति समझ पा रही थी कि वह वहीदा से कितनी गहरे तौर पर जुड़ चुकी है। उसका वहीदा से इस हद तक जुड़ाव है कि उसने उसके साथ आने वाले भविष्य का पूरा ताना बाना बना लिया है। उसने मुझे बताया कि ''मैं अपना सर्जरी कराऊँ ताकि वहीदा को कोई समस्या ना हो और वह किसी लड़के के पीछे भागती न रहे।'' मैं उसके प्रेम में डूबे इस रूप को बस सुनती रही। करीब दो-ढाई घण्टे बाद मैंने उससे कहा कि अब घर चल तेरी माँ परेशान हो रही हैं। उसका मन घर जाने का नहीं था। उसको बस बार-बार यही दिमाग में आ रहा था कि वहीदा ऐसा कैसे कर सकती है। पहले लगता था कि ये बस दो-चार दिन की बात है और कुछ दिन में सब पहले जैसा ठीक हो जाएगा। परन्तु इस बार सब इतनी जल्दी ठीक नहीं हो रहा था। अभी मैं उसे घर छोड़कर आयी हूँ परन्तु बड़ी मुश्किल से वह घर गयी।

शाहिदा मेरे सामने खुद को लड़का बना लेती है। लड़कों की तरह बात करती है, उसी की तरह कपड़े पहनती है, जिम जाती है। मेरे अलावा एक और इंसान है, जो शाहिदा के बारे में जानती है कि शाहिदा किस तरह की भावना से गुजर रही है। वह हैं शाहिदा की माँ।

शाहिदा की माँ किन्नर समुदाय से हैं और वह उस समूह की गुरु भी। उनकी खुद की मण्डली है। वह शाहिदा के पिता की दूसरी पत्नी हैं। पहले वाली पत्नी का देहान्त हो गया है, जिनकी बेटी शाहिदा है। शाहिदा को कभी भी ऐसा नहीं लगा की ये उसकी असली माँ नहीं है। गुरु माँ ने शाहिदा को अपने बच्चे की तरह पाला है।

इसलिए उसे शाहिदा और वहीदा के रिश्ते से कोई आपत्ति नहीं है। वह शाहिदा और वहीदा के रिश्ते के बारे में सब कुछ जानती हैं। शाहिदा के अन्दर आये बदलाव के बारे में उन्हें पता है। गुरु माँ शाहिदा का हर हाल में सहारा बनती है। उनकी घर में अपनी एक भूमिका है घर में वह एक माँ हैं, पत्नी हैं और

कुशल गृहिणी, जो घर की सारी जिम्मेवारी निभाती हैं। साथ-साथ बाहर भी अपनी भूमिका को बखूबी निभाती हैं। गुरु माँ ग्रुप (मण्डली) में ओहदेदार महिला हैं। उन्हें पूरी मण्डली को सँभालना होता है। इस मण्डली में कुछ ढोलक बजाने वाले और कुछ नाचने वाले लोग भी हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो जन्म से किन्नर नहीं हैं, पर इस मण्डली में शामिल हैं। किन्नर मण्डली में काम करने से इससे उनकी निजी जिन्दगी भी प्रभावित होती है। इस तरह की हजारों मण्डलियाँ शहर में काम करके अपना जीवन चलाती हैं और इससे उनके परिवार को दो वक्त की रोटी मिलता है। इस मण्डली में शाहिदा की एक दीदी हैं जीनत। जो की मेरी मुँह बोली भाभी हैं।

जीनत एक जन्मजात किन्नर महिला है और गुरु माँ की बेटी के साथ-साथ मण्डली की सदस्य भी है। उसका व्यक्तित्व एक दबंग महिला किन्नर की है। इन्होंने अपनी शादी मण्डली के ही एक सदस्य रमेन्द्र से की है। जो उनकी मण्डली में ढोलक बजाते हैं। जीनत, शाहिदा से काफी जुड़ी है। जीनत एक बेहतर जिन्दगी जी रही है। वह स्वतन्त्र रूप से सभी काम करती है। एक तरह से जीनत अपने ससुराल और मायके दोनों घर की मुखिया की जिम्मेवारी निभाती है।

रमेन्द्र एक सामान्य पुरुष है। जो विगत कई वर्षों से दिल्ली में रह रहे हैं। उनकी शादी काफी पहले हुई थी जिनसे एक बेटी भी है। वे बवाना की एक फैक्ट्री में नौकरी के माध्यम से अपने परिवार के साथ ठीक-ठाक गुजर-बसर कर रहे थे। उनकी पत्नी सड़क दुर्घटना में घायल हो गयी और फिर उनकी मृत्यु हो गयी। पत्नी की मृत्यु के बाद वे कुछ दिन के लिए अपने गाँव चले गये। उनकी बेटी काफी छोटी थी इसलिए उन्होंने उसे दादा-दादी के पास छोड़कर वापस दिल्ली आ गये। रमेन्द्र की जान-पहचान गुरु माँ से थी जिसकी वजह से वे भी मण्डली में ढोलक बजाने का काम करने लगे और मण्डली का वे अभिन्न अंग बन गये। मण्डली में जीनत नामक किन्नर महिला से उनका मेलजोल हुआ। बाद में उन दोनों ने शादी कर ली। आज वे दोनों एक कुशल जोड़े की तरह अपनी गृहस्थी मिल-जुलकर चलाते हैं। ये दोनों जिस मकान में रहते हैं उसके पड़ोस में एक परिवार रहता था। उसकी पत्नी का नाम राखी था। राखी के पति का एक दूसरी महिला से सम्बन्ध था जिसकी वजह से राखी को उसका पति और वह महिला दोनों मारते थे। राखी को इस हालत से निकलने में रमेन्द्र ने मदद की और उसे संरक्षण देने के लिए अपने घर पर ले आया। राखी का कहीं कोई ठिकाना नहीं था। इसी दौरान राखी और रमेन्द्र की शादी हो गयी। इस शादी से जीनत भी राजी थी। इस शादी के बाद रमेन्द्र, राखी और जीनत तीनों एक साथ रहते हैं। राखी का पहले पति से एक लड़का भी है जो राखी के साथ ही रहता है। इस तरह अब रमेन्द्र की पहली स्वर्गवासी पत्नी की बेटी, दूसरी पत्नी जीनत और तीसरी पत्नी राखी तथा उसके साथ पूर्व पति का बेटा सब साथ-साथ रहते हैं।

रमेन्द्र की पहली शादी प्रेम-विवाह था और रमेन्द्र के माँ-पिता इस शादी के खिलाफ थे। दोनों की गृहस्थी अच्छे से चल रही थी, लेकिन पत्नी के गुजर जाने के बाद वह अकेला रह गया तथा खुद की दुनिया चलाने के लिए वह किन्नर मण्डली में शामिल हो गया, जहाँ उसने जीनत से शादी की। उसके बाद उसने एक तीसरी महिला से शादी की जो अपने पति से प्रताड़ित थी। जब तक राखी गाँव नहीं गयी थी तब तक रमेन्द्र और जीनत मण्डली के साथ काम करने निकल जाते थे और राखी घर सँभालती थी। लेकिन अब राखी यानी रमेन्द्र की तीसरी पत्नी अपने पति के माँ-बाप के साथ गाँव में रहती हैं वहीं रमेन्द्र की पहली पत्नी की बेटी भी रहती है।

मैं जब भी इस परिवार से मिलने जुलने जाती हूँ तो कुछ भी असामान्य नहीं दिखता है वे लोग ऐसे ही रहते हैं जैसे मुहल्ले के दूसरे परिवार। लेकिन मेरा अनुभव अब मुहल्ले के बाहर की दुनिया से भी है तब मैं महसूस करती हूँ और हर दिन देखती भी हूँ कि एक ही समुदाय के अन्दर गरीब मुहल्ले की अलग दुनिया, उसकी समस्याएँ और समझ है, दूसरी ओर अमीर तबके में अलग। इस तीसरी लैंगिक 'आइडेण्टिटी' के अन्दर वर्ग, जाति, धर्म आदि उतने ही प्रभाव डालते हैं जैसे बाकी दोनों लैंगिक पहचानों के अन्दर। ■

साहित्यिक पत्रकारिता के तीन दशक

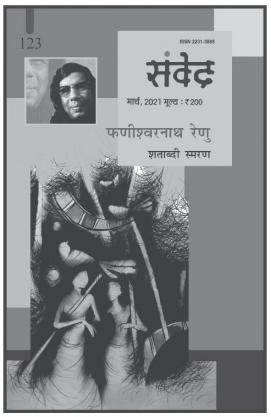

सम्पादक
किशन कालजयी

एक अंक : पचास रुपये
विशेषांक : दो सौ रुपये
वार्षिक : नौ सौ रुपये
रजिस्टर्ड डाक खर्च समेत 1500 रुपये

B-3/44, Sector-16, Rohini, Delhi-110089
+91 8340436365
linkedin.com/company/samvedindia
samved.sablog.in
facebook.com/samvedmasik
samvedmonthly@gmail.com
twitter.com/samvedindiaInstagram
instagram.com/samvedindia

संस्कृति

विकास के बरक्स आदिवासी संस्कृति

सुखराम मुजाल्दे

आदिवासी संस्कृति, परम्परा प्रकृति-पूजक के रूप में जल, जंगल, जमीन और पहाड़ से जुड़ी रही है। देश का संविधान भी उनके इस जुड़ाव को संरक्षण प्रदान करता है। उनका स्वभाव और संस्कृति कथित आधुनिक समाज के लोगों में कौतूहल पैदा करती है। आज देश में करीब 10 फीसद आबादी आदिवासी समुदाय की है, लेकिन फिर भी आधुनिक सामाजिक दौड़ में ये अन्य की तुलना में पिछड़े हुए है।

एक आदिवासी बहुल राज्य के रूप में मध्यप्रदेश एवं झारखण्ड की देश में अलग पहचान है। यहाँ के आदिवासी समुदाय की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक एवं सामाजिक व्यवस्था है जो स्वयं में अनूठी है। आज जब पूरा विश्व वायुमण्डलीय बदलाव और ग्लोबल वार्मिंग जैसी समस्याओं से जूझ रहा है तब हमें आदिवासी समाज की जीवन-शैली अपनी ओर खींचती है। प्रकृति से इनकी नजदीकी और मानव के मध्य एक बेहतर समन्वय को दर्शाता है।

खेती के इनके तौर-तरीके और जंगलों का संरक्षण इनकी परम्पराओं में शामिल है जो पूरे विश्व के लिए अनुकरणीय बन सकता है, लेकिन हम इनकी पुरातन परम्पराओं को भूलते जा रहे हैं। ऐसे में क्या इनकी परम्पराएँ और संस्कृति किताब और शोध का विषय ही रहेंगे या व्यवहारिक धरातल पर भी दूसरों के काम आएँगे?

तकनीक और विज्ञान से लैस आज का आधुनिक समाज आदिवासियों की परम्पराओं और जीवनशैली को उत्सुकता की निगाह से देखता है। उसके लिए इनका व्यवहार और संस्कृति अब अप्रासंगिक हो चुके हैं, लेकिन सही मायने में आदिवासियों की विशिष्ट जीवनशैली ही है जो हमें प्रकृति के साथ एक तारतम्य बनाकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। इनकी परम्पराओं में छिपे ज्ञान को बाहर निकालने की आवश्यकता है।

आज समाज का हर वर्ग विकास की दौड़ में एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ में है। इसी बीच एक सुदूर गाँव का आदिवासी भी चाहता है कि वह भी समाज के अन्य वर्गो की भाँति आगे आये। अब इस प्रतिस्पर्धा के युग में सरकार भी इस समुदाय की विभिन्न स्तरों पर सहभागिता हेतु कार्य कर रही है। इनकी परम्पराओं और संस्कृतियों के संरक्षण के साथ-साथ विकास की दौड़ में कैसे इनकी भी सहभागिता सुनिश्चित करे? कैसे इस समाज के युवाओं के लिए इनकी परम्पराओं के अनुकूल विकास का माहौल तैयार करे?

राज्य में लुप्तप्राय हो रही जनजातियों की विशिष्ट जीवनशैली और परम्पराओं को संरक्षण प्रदान करने के लिए इसे सामान्य जीवन में भी व्यवहार में लाना होगा। उनकी खेती की पारम्परिक विधा, जंगलों में औषधीय पौधों की पहचान, उनके उपयोग और जैविक खेती के कई तरीके आज भी अनूठे हैं। सरकार इनके विकास की नीति उनकी इन्हीं परम्पराओं को ध्यान में रखकर तैयार करने का प्रयास कर रही है जिसमें पुराने बीजों का संरक्षण, मोटे अनाजों हेतु नीतियों का निर्माण, ताकि उनकी संस्कृति और परम्पराओं का भी संरक्षण हो सके। जिससे आदिवासियों के विभिन्न स्तरों के अनुरूप उनके विकास का खाका तैयार किया जा सके। विश्व की इस महान लोक-संस्कृति को संरक्षित व संवर्धित करने के लिए एक सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है।

आदिवासी आध्यात्म, परम्परा, संस्कृति से सम्बन्धित ज्ञान-परम्परा पर काम करने वाले शोधार्थी नीलम केरकेट्टा का मानना है कि पर्यावरण की सुरक्षा पर जो बहस आज दुनिया भर में हो रही है, उसकी विडम्बना है कि उसके मूल में अभी भी प्रकृति पर विजय पाने का दर्शन ही है। जब तक आदिवासियों की संस्कृति में उपलब्ध प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाने के दर्शन को इसका आधार नहीं बनाया जाएगा, इस बहस का कोई खास नतीजा नहीं निकलेगा। उरांव समाज की ज्ञान परम्परा का अध्ययन करने वाले इस शोधार्थी का मानना है कि उनके पास बीजों और पेड़-पौधों के बारे में जो ज्ञान है, उस पर उन्होंने पुस्तकों का सृजन तो नहीं किया है, लेकिन उनके गीतों, कलाओं और दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों में संकलित है।

फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रूनो लातूर ने सही कहा है कि आधुनिक समाज जिन मापदण्डों पर आदिवासी समाज को आधुनिकता के दौर में पिछड़ा मानता है, उन्हीं मापदण्डों पर यदि उन्हें भी परखा जाये, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हम कभी आधुनिक थे ही नहीं। हमारा आधुनिक होना एक दम्भ से ज्यादा कुछ भी नहीं है।

भारतीय आदिवासियों की ज्ञान परम्परा में विद्वानों की रुचि बढ़ रही है। आदिवासी संस्कृति एक जीवन्त परम्परा है, उसे संग्रहालय में सजाने की जगह उस पर शोध की जरूरत है। यदि उत्तरी अमेरिका की खानाबदोश ब्लैकफुट संस्कृति पर काम करने वाले लेरोय लिट्टलबीयर की बात मानें, तो आधुनिक विज्ञान से आदिवासी विज्ञान के संवाद की जरूरत है। ध्यान रहे, यह संवाद ज्ञान के दम्भ से अलग हटकर बराबरी का हो और मानवीय मूल्यों को केन्द्र में रख कर हो। आवश्यक है कि आधुनिक समय में साहित्य के दृष्टिकोण से आदिवासी समुदाय के गौरवपूर्ण इतिहास और उनके स्वाभिमान को आधुनिक समाज के समक्ष प्रस्तुत करने, उसका सही प्रलेखन करने की, ताकि स्वयं समुदाय और देश के अन्य समुदायों को इसका भान हो सके। इससे इनकी गौरवपूर्ण सभ्यता और संस्कृति पर नाज हो। (सप्रेस)

लेखक देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर में स्कूल ऑफ ट्राइबल स्टडीज के विभागाध्यक्ष हैं।

■

सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का अभियान

रूपेश कुमार यादव

आयोजन

पहली बार 'कलकत्ता साहित्य प्रतियोगिता' शीर्षक से आयोजित हिन्दी मेला की जड़ें अब काफी गहरी हो गयी हैं। प्रसिद्ध आलोचक शम्भुनाथ ने जगदीश प्रसाद साहा के साथ मिलकर जिस नयी पौध को रोपा, आज वह एक विशालकाय वृक्ष का रूप ले चुका है। हिन्दी मेला विगत 30 वर्षों से साहित्यिक और सांस्कृतिक जागरण का उद्घोष कर रहा है। यह एक ऐतिहासिक उपलब्धि है कि बिना किसी सरकारी वित्तीय सहयोग से यह आयोजन आपसी सहयोग और सहभागिता से सम्पन्न हो रहा है।

कोलकाता का हिन्दी मेला भारतीय भाषाओं का आँगन है। इसमें हिन्दी के साथ-साथ हिन्दीतर भाषाओं के प्रतियोगी भी अपनी प्रस्तुतियाँ देते हैं। हिन्दी मेला में बांग्ला कवि सुभाष मुखोपाध्याय, कथाकार महाश्वेता देवी, तसलीमा नसरीन, नवारुण भट्टाचार्य, गौतम घोष जैसे व्यक्तित्व आ चुके हैं। हिन्दी साहित्यकारों में नामवर सिंह, परमानन्द श्रीवास्तव, केदारनाथ सिंह, कल्याणमल लोढ़ा, विष्णुकान्त शास्त्री, काशीनाथ सिंह, कृष्ण बिहारी मिश्र, मंगलेश डबराल, अशोक वाजपेयी, विजेन्द्रनारायण सिंह, नन्दकिशोर नवल, पी.एन. सिंह, वीरेन डंगवाल, अवधेश प्रधान, अरुण कमल, अरविन्द चतुर्वेदी, कृपाशंकर चौबे, विष्णुचन्द्र शर्मा, खगेन्द्र ठाकुर, विजय मोहन शर्मा, राजेन्द्र कुमार, विजय बहादुर सिंह, रविभूषण, श्रीप्रकाश शुक्ल, बसन्त त्रिपाठी, सन्तोष भदौरिया, वैभव सिंह, बद्रीनारायण, अरुण कुमार, मनीषा कुलश्रेष्ठ, सुजाता, रोहिणी अग्रवाल, पूनम सिंह, आशीष त्रिपाठी, रमाशंकर सिंह, राहुल सिंह, गरिमा श्रीवास्तव, पार्वती तिर्की, अनुज लुगुन आदि आ चुके हैं।

आज हिन्दी मेला की ख्याति देश-भर में है। इसकी चर्चा देश के अलग-अलग क्षेत्रों में हो रही है। कोरोना महामारी ने हिन्दी मेला को पश्चिम बंगाल से निकालकर देश के विभिन्न राज्यों में पहुँचा दिया। कोरोना के दौरान ऑनलाइन माध्यम में आयोजन होने के कारण दिल्ली, बिहार, उत्तर प्रदेश, केरल, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश, उड़ीसा और झारखण्ड से कई प्रतियोगियों ने हिस्सा लिया और लगातार इससे जुड़े हुए हैं। हिन्दी मेला का मुख्य लक्ष्य है–मातृभाषा से प्रेम, साहित्य का लोकप्रियकरण और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण। हिन्दी मेला का मंच नयी प्रतिभाओं को सामने लाता है और दर्जनों प्रतियोगिताओं के माध्यम से उनमें साहित्यिक अभिरुचि को पैदा करता है। तीन दिवसीय प्रतियोगिता से शुरू हुआ हिन्दी मेला अब सात दिवसीय युवा अभियान बन चुका है। प्रत्येक वर्ष 26 दिसम्बर से 31 दिसम्बर तक 6 दिनों तक लघु नाटक प्रतियोगिता, काव्य आवृत्ति, चित्रांकन, कविता पोस्टर, हिन्दी ज्ञान प्रतियोगिता, काव्य संगीत, लोक गीत, काव्य नृत्य, कविता कोलाज, आशु भाषण, वाद-विवाद, रचनात्मक लेखन, फोटोग्राफी, मल्टीमीडिया कविता पाठ सहित दर्जनों प्रतियोगिता आयोजित होती हैं। हिन्दी मेला का समापन सातवें दिन 1 जनवरी को युवा शिखर सम्मान एवं विजयी प्रतिभागियों की पुनःप्रस्तुति के साथ होता है।

हिन्दी मेला द्वारा प्रत्येक वर्ष शिक्षा के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए कल्याणमल लोढ़ा-लिली लोढ़ा शिक्षा सम्मान, पत्रकारिता के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए युगल किशोर सुकुल पत्रकारिता सम्मान और नाटक के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए माधव शुक्ल नाट्य सम्मान दिया जाता है। इस वर्ष से परमेश्वरी देवी पोद्दार की स्मृत्ति में निर्मल वर्मा साहित्य सम्मान की शुरुआत हुई। इस वर्ष का कल्याणमल लोढ़ा-लिली लोढ़ा शिक्षा सम्मान राष्ट्रीय स्तर पर प्रख्यात शिक्षाविद और लेखक डॉ. विजय बहादुर सिंह को एवं पश्चिम बंगाल स्तर पर सावित्री गर्ल्स कॉलेज की पूर्व हिन्दी

लेखक पश्चिम बंगाल के विद्यासागर विश्वविद्यालय (पश्चिमी मिदनापुर) में हिन्दी विभाग में शोधार्थी हैं।
+918450005143
rupeshy782@gmail.com

विभागाध्यक्ष डॉ. मीरा सिन्हा को मिला। वरिष्ठ पत्रकार रविशंकर सिंह को युगल किशोर सुकुल पत्रकारिता सम्मान, प्रसिद्ध रंगकर्मी मृत्युंजय भट्टाचार्य को माधव शुक्ल नाट्य सम्मान और युवा कथाकार किंशुक गुप्ता को निर्मल वर्मा साहित्य सम्मान मिला।

30वें हिन्दी मेला की शुरुआत लघु नाटक प्रतियोगिता से हुई। उद्घाटन सत्र में हावड़ा हिन्दी विश्वविद्यालय की कुलपति प्रो. नन्दिनी साहू, सांस्कृतिक पुनर्निर्माण मिशन के अध्यक्ष व लेखक प्रो. शम्भुनाथ, आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह, रामनिवास द्विवेदी, मृत्युंजय सिंह, प्रसिद्ध रंगकर्मी मृत्युंजय भट्टाचार्य, लेखिका शर्मिला बोहरा जालान, विश्वम्भर नेवर, अमिताभ बच्छावत, डॉ. राजेश मिश्र, मृत्युंजय श्रीवास्तव एवं सुरेश शॉ मौजूद थे। लघु नाटक प्रतियोगिता में 15 नाट्य दलों ने हिस्सा लिया। विद्यासागर विश्वविद्यालय नाट्य दल को इस वर्ष का 'मोहन राकेश पुरस्कार' (शिखर सम्मान), सर्वश्रेष्ठ निर्देशक विशाल कुमार साव, श्रेष्ठ अभिनेत्री नेहा साव, श्रेष्ठ बाल कलाकार अभिनव गुप्ता को तथा सर्वश्रेष्ठ अभिनेता आदित्य साव को मिला। कार्यक्रम के दूसरे दिन काव्य आवृत्ति प्रतियोगिता हुई। काव्य आवृत्ति का 'अज्ञेय पुरस्कार' रेयांश साव (शिशु वर्ग), हरा प्रसाद प्राइमरी इंस्टिट्यूट, श्रुति साव ('अ' वर्ग), टेक्नो इण्डिया स्कूल एवं ओमकार बनर्जी ('क' वर्ग), प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालय को मिला। चित्रांकन, कविता पोस्टर प्रतियोगिता का 'महादेवी वर्मा पुरस्कार' ऋतु जायसवाल (चित्रांकन शिशु वर्ग), सेण्ट ल्यूक्स डे स्कूल, कौस्तुव पाल (चित्रांकन वर्ग अ), राहुल कुमार नायक (कविता पोस्टर), एमिटी यूनिवर्सिटी को मिला। हिन्दी ज्ञान प्रतियोगिता का 'भीष्म साहनी पुरस्कार' अध्ययन केन्द्र को मिला। वाद-विवाद प्रतियोगिता में 'सुरेन्द्र प्रताप सिंह पुरस्कार' सृष्टि सिंह (वर्ग अ), सेण्ट ल्यूक्स डे स्कूल, आशुतोष कुमार राउत (वर्ग क), कलकत्ता विश्वविद्यालय को मिला। काव्य संगीत प्रतियोगिता का 'निराला पुरस्कार' राघव डागा, इन्दिरा गाँधी मेमोरियल हाई स्कूल, लोक गीत प्रतियोगिता का 'मीरा पुरस्कार' हर्षिता साव, हरा प्रसाद प्राइमरी इंस्टिट्यूट को मिला। आशु भाषण प्रतियोगिता का 'भारतेन्दु पुरस्कार' पीयूष साव (वर्ग अ), गारुलिया मिल हाई स्कूल, फरहान अजीज (वर्ग क), प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालय को मिला। भाव नृत्य प्रतियोगिता का 'रेणु पुरस्कार' श्रुति साव (एकल), टेक्नो पब्लिक स्कूल और मणिशंकर कला केन्द्र (समूह) को मिला। रचनात्मक लेखन का शिखर सम्मान दीपक पासवान, प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालय, फोटोग्राफी प्रतियोगिता का शिखर सम्मान डिम्पल कुमार पंचोली, गुजरात और मल्टीमीडिया कविता पाठ का 'केदारनाथ सिंह पुरस्कार' अर्पिता साव, सेण्ट ल्यूक्स डे स्कूल को मिला। कोलकाता कविता उत्सव में कलावती कुमारी, श्वेतांक सिंह, शिप्रा मिश्रा, चाहत अन्वी, राज्यवर्द्धन, मंजु श्रीवास्तव, सेराज खान बातिश, मधु सिंह, सच्चिदानन्द, अनिला राखेचा, अनुज लुगुन, सुनील कुमार शर्मा, अंजुमन आरा, शुभ्रा उपाध्याय, अभिषेक शर्मा, प्रकाश देवकुलिश, अभिज्ञात, रचना सरन, शैलेश गुप्ता, आनन्द गुप्ता, मनीषा गुप्ता, इबरार खान, रौनक अफरोज और सूर्य देव रॉय ने काव्य पाठ किया।

कार्यक्रम के छठे दिन 'वर्तमान हिंसा और साहित्यिक परम्पराएँ' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में देश-भर से उपस्थित साहित्यकारों और चिन्तकों ने दुनिया में बढ़ रही हिंसा और युद्ध के खतरों के प्रति चिन्ता व्यक्त की। इस अवसर पर लेखक मृत्युंजय श्रीवास्तव ने कहा कि हम जब जीवन में अतिरेकों की ओर बढ़ते हैं, तब हिंसा की पृष्ठभूमि तैयार होती है। समाज वैज्ञानिक रमाशंकर सिंह ने कहा कि घुमन्तू जन-जातियों की अनदेखी, उदासीनता और उपेक्षा भी एक सभ्य हिंसा है, उन्हें अभी भी शिक्षित समाज समझ नहीं पाता है। जयपुर से आयीं कथाकार मनीषा कुलश्रेष्ठ ने कहा कि इधर डिजिटल हिंसा बढ़ी है, इसके शिकार बच्चे और स्त्रियाँ हैं और डिजिटल अरेस्ट भयंकर रूप ले रहा है, जिसके प्रति जागरूकता जरूरी है। 'साखी' के सम्पादक और बी.एच.यू. के पूर्व-प्रोफेसर सदानन्द शाही ने कहा कि महाभारत में अहिंसा को ही परम धर्म कहा गया है। बुद्ध ने अपने समय में अहिंसा के जरिये ही मनुष्यता को ऊपर उठाया। विश्वभारती के प्रो. राहुल सिंह ने कहा कि इस समय की हिंसा दृश्य से अधिक अदृश्य है। इतु सिंह ने कहा कि रूस-यूक्रेन जैसे युद्ध मनुष्यता के लिए अभिशाप हैं। अध्यक्षीय भाषण देते हुए विजय बहादुर सिंह ने कहा कि वर्तमान समय में बढ़ी हिंसा सार्वभौम चिन्ता का विषय होना चाहिए। आज असहमति हिंसा को बुलाना है। दूसरे सत्र में आदिवासी कवि और लेखक अनुज लुगुन ने कहा कि आदिवासी लोग प्रकृति से प्रेम करते हैं और विस्थापन में हिंसा का विरोध करते हैं। प्रो. अंजुमन आरा ने भारतीय साहित्यिक परम्परा में हिंसा के विरोध की परम्पराओं पर चर्चा की। प्रो. गीता दूबे ने स्त्री के प्रति हिंसा पर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि समाज में अहिंसा और प्रेम ही सर्वोच्च मूल्य हैं। प्रियंकर पालीवाल ने कहा कि इस दौर में क्रिकेट टीमों के नाइट राइडर्स जैसे नामों में हिंसा है और अब संगीत का महायुद्ध होता है। ऐसी छोटी-छोटी हिंसात्मक अभिव्यक्तियों पर विचार किया जाना चाहिए। दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ. गोपेश्वर सिंह ने कहा कि कोई भी बड़ा संग्राम अहिंसा के रास्ते से ही जीता जा सकता है, उसका सबसे बड़ा प्रमाण हमारा स्वाधीनता आन्दोलन है, जिसमें गाँधी आदर्श थे। मिशन के अध्यक्ष और प्रमुख लेखक डॉ. शम्भुनाथ ने कहा कि वर्तमान युग में हिंसा का प्रवेश आम जीवन और संस्कृति में हुआ है, इसलिए हिन्दी मेला का लक्ष्य है हिंसामुक्त भारत का निर्माण। राँची से आये जन संस्कृति मंच के राष्ट्रीय अध्यक्ष रविभूषण ने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा कि आज हिंसा का रूप पूरी तरह बदल गया है। हम यदि सही विकल्प रखें, समाज से हिंसा कम की जा सकती है। शोध संवाद में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से शोधार्थी महेश कुमार, रवेंशा विश्वविद्यालय से इमरान इजराइल, प्रवास चन्द्र और विद्यासागर विश्वविद्यालय से सुषमा कुमारी ने आलेख पाठ किया। शोध संवाद की अध्यक्षता करते हुए रवेंशा विश्वविद्यालय से डॉ. अभिषेक शर्मा ने कहा कि हिंसा से मुक्ति के पर्व के रूप में हिन्दी मेला का आयोजन ऐतिहासिक है।

आज कॉरपोरेट घरानों द्वारा आयोजित लिटरेरी फेस्ट के दौर में हिन्दी मेला जैसे आयोजन इस रूप में विशिष्ट हैं कि यह आयोजन स्थापितों के साथ-साथ नयी पीढी को भी मंच देता है। हिन्दी मेला का कोलकाता में साहित्यिक और सांस्कृतिक पीढ़ी को तैयार करने में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस आयोजन को सफल बनाने में विशेष रूप से रामनिवास द्विवेदी, मृत्युंजय श्रीवास्तव, अनीता राय, राजेश साव सहित सभी संस्कृतिकर्मियों, सहयोगियों एवं साहित्यप्रेमियों की विशेष भूमिका रही।

■

भेदभाव से जंग

रक्षा गीता

सिनेमा

सत्य घटना पर आधारित ऐतिहासिक मिशन, जिसे पूरा करने के लिए उन्हें यूरोप में तैनात किया गया ताकि वे 17 मिलियन बैकलॉग खत छाँटकर उन सैनिकों तक पहुँचा सके जिन्हें महीनों से अपने प्रियजनों की खबर नहीं मिली थी। बटालियन ने जो इतिहास रचा उसे उस समय अनदेखा किया गया था। भारत में भी इस तरह की फिल्मों की आवश्यकता है जो हाशिये से जुड़े लोगों का संघर्ष रेखांकित करें जिन्हें इतिहास में जान-बूझकर नजरअन्दाज किया गया।

लेखिका कालिन्दी महाविद्यालय, दिल्ली के हिन्दी विभाग में असिस्टेण्ट प्रोफेसर हैं।
+919311192384
rakshageeta14@gmail.com

नस्लवाद, लैंगिक भेदभाव और हिंसा पर आधारित इस फिल्म का आरम्भ मैरी मैक्लियोड बेथ्युन के सन्देश के साथ होता है–''हम चाहते हैं कि आप यह जानें कि हम चाहते हैं–हमें अमेरिकी लोकतन्त्र का एक हिस्सा माना जाये, न कि उससे अलग कुछ...'' ('सेन पीएत्रियो इटली, दिसम्बर 1943') बीसवीं सदी के शुरुआती दशक में महिला और अश्वेत नागरिकों के अधिकार के लिए आन्दोलनकारी, मानवाधिकारी व शिक्षिका के रूप में 'मैरी मैक्लियोड बेथ्युन' को याद किया जाता है। 1935 न्यूयार्क में उन्होंने नेशनल काउंसिल ऑफ नीग्रो विमेन की स्थापना की, जिसमें 28 विभिन्न संगठनों के प्रतिनिधियों को साथ लेकर अश्वेत महिला और उनके समुदायों के जीवन को बेहतर बनाने का काम किया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अश्वेत महिलाओं को महिला सेना कोर में अधिकारी के रूप में नियुक्ति करने की मंजूरी दी गयी थी। उन्होंने अश्वेत लड़कियों के लिए स्कूल खोला जो आज फ्लोरिडा के डेटोना में बेथ्युन कुकमैन विश्वविद्यालय है। इस भूमिका के बाद फिल्म का उद्देश्य समझ आ सकता है। मीडिया क्वीन सुप्रसिद्ध अभिनेत्री ओपरा विन्फ्रे एक दृश्य में मैरी मैक्लियोड बेथ्युन की भूमिका में नजर आती हैं। केविन एम. हायमल की पुस्तक फाइटिंग अ टू-फ्रण्ट वार पर आधारित अँग्रेजी फिल्म 'द सिक्स ट्रिपल एट' फिल्म द्वितीय विश्व युद्ध में सेवा देने वाली 'सभी अश्वेत महिला सेना कोर बटालियन' को श्रद्धांजलि है। टायलर पेरी के निर्देशन में हेड कमांडिंग ऑफिसर चैरिटी एडम्स की भूमिका में केरी वाशिंगटन में दमदार काम किया है, वे आपके भीतर वही जज्बा पैदा करती है, जिसके कारण 'द सिक्स ट्रिपल एट' बटालियन अपने साथ भेदभाव होने के बावजूद, अपने संघर्ष और सफलता को रेखांकित करती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध का दृश्य 'जवानो आगे बढ़ो' के जोश के साथ बँदूकें, गोलियाँ, बमबारी, गाजर-मूली की तरह सैनिक मर-कट रहे हैं, हवाई जहाज से हमले हो रहे हैं, एक फाइटर विमान नीचे गिरता है, उसमें से सैनिक की लाश बाहर निकालते हुए जेब से खून से सनी चिट्ठी दिखाई देती है, उस चिट्ठी को पोस्टल बैग में डाल दिया जाता है। फिर पृष्ठभूमि से शिकायतों, उलाहनों, चिन्ताओं के साथ प्रेमी, पति, पुत्रों या पिताओं को याद करते हुए आवाजें–''बिली, तुम्हारी फिक्र होती है, मैं तुम्हें बहुत मिस करती हूँ... तुमने अब तक कोई खत क्यों नहीं भेजा... तुमने लेटर का जवाब क्यों नहीं दिया... तुम जल्दी से वापस आ जाओ... मैं तुमको बहुत खत लिखती हूँ तुम जवाब क्यों नहीं देते... प्यारे विलियम कम बैक सून... क्या सब कुछ ठीक है...? साल से ऊपर हो चुका है तुम्हारा खत नहीं आया... डियर डैडी आपकी बहुत याद

आती है... मिशेल जल्दी से घर वापस आओ मैं तुम्हारे वापस आने की कामना करती हूँ...'' खतों को पहुँचाना सेना की प्राथमिकता नहीं है, इसलिए बोरियों में अनगिनत खत ट्रकों में भर एक गोदाम में ठूँस दिये जाते हैं। बैकग्राउण्ड में 'रुला देने वाला वायलिन' बज रहा है। ये खत-सन्देश एक-दूसरे को क्यों न पहुँच पाये? इसके लिए कौन जिम्मेदार है? क्या इन खतों को मंजिल मिलेगी? कैसे? कौन पहुँचाएगा? युद्ध की त्रासदी में परिवार के खत सम्बल होते हैं जो उन्हें नहीं मिल रहे थे। खतों को वे बार-बार पढ़ते हैं, उनका मनोबल बढ़ता है। 1945 की जंग जिताने में 'द सिक्स ट्रिपल ऐट' अहम् हिस्सा बनने वाली हैं, कैसे? खतों का पहाड़ जो लगभग दस महीनों से रुका हुआ था उन्हें 6 महीने में पहुँचाना है। बटालियन 'सिक्स ट्रिपल ऐट' ने 17 मिलियंस खत 90 से भी कम दिन में सैनिकों तक पहुँचाये।

ब्लूमफील्ड पैन्सिल्वेनिया 1942, कॉलेज का दृश्य जिसमें एक श्वेत लड़का बेसब्री से अश्वेत लड़की का इन्तजार कर रहा है, कई अश्वेत लड़कियों की हिकारत भरी नजरों का सामना करते हुए अश्वेत लीना आगे बढ़ रही है कि एक श्वेत लड़की लगभग चिल्लाते हुए लड़के को चेतावनी देती है 'डेविड अब्राहम तुम्हें ऐसी-वैसी (मतलब ब्लैक) लड़कियों के साथ घूमना-फिरना बन्द कर देना चाहिए'। लड़का जवाब देता है 'मेरी कैथरीन जबान सँभालकर बात करो'। फिर वह लड़का जर्मन भाषा में उसे कुछ कहता है और अश्वेत लड़की भागकर लगभग कूदते हुए कार पर चढ़ जाती है, तेज स्पीड पर कार चलाते हुए, बैकग्राउण्ड में वही खून भरी चिट्ठी नजर आ रही है यानी यह वही सैनिक लड़का, जो मारा गया। पर्दे के पीछे लीना की माँ दोनों को साथ देखकर प्रसन्न तो है लेकिन वह इस सच्चाई से वाकिफ है कि वह श्वेत लड़का यहूदी है जिसके साथ अश्वेत लड़की का सम्बन्ध कभी भी आगे नहीं बढ़ सकता। एक पार्टी में उसकी माँ लड़के को स्पष्ट कहती है कि–'अगर तुम्हें मेरी बेटी पसन्द है तो एक मर्द की तरह मेरे घर आकर मेरे परिवार से इज्जत से उसका हाथ माँगो!' लड़का कहता है जी, मैं जंग से लौटकर आऊँगा तो सबसे पहले यही काम करूँगा।' पार्टी में हिटलर की हैवानियत पर बातें हो रही हैं तो दूसरी ओर कैथरीन लीना से कहती है–'चलो अच्छा है तुम्हें अपनी औकात पता लग गयी' यानी किसी को रंग की वजह से किसी को भी नीचा दिखाना कौन-सी इंसानियत है? पार्टी में हिटलर के जिन यातना शिविरों की बात हो रही है उसके समानान्तर ही अश्वेतों के प्रति श्वेतों का क्रूर व्यवहार दिखाना ही फिल्म का उद्देश्य है।

युद्ध में गये सैनिक की एक माँ, जो दो साल से अपने सैनिक बेटों की खबर न मिल पाने के लिए चिन्ता में है। दो दिन से प्रेसिडेण्ट फ्रेंक्लिन रूजवेल्ट के घर के बाहर खड़ी है, तब उनकी पत्नी एलेनोर उससे कारण पूछती है वो कहती है मैं वेस्ट वर्जीनिया से हूँ, कोयले की खान में मेरे पति काम करते हैं, हम मामूली लोग हैं। रूजवेल्ट कहती हैं 'मामूली कोई नहीं होता सब खास है'। अपने दोनों बेटों की तस्वीर दिखाकर बताती है कि युद्ध के कारण पूरे देश के हालात बदतर हो चुके हैं ''न खत पहुँच रहे हैं न खतों के जवाब पहुँच रहे हैं, मिल रहे हैं।'' जबकि सैनिकों के उत्साहवर्धन के लिए सन्देशों का पहुँचाना जरूरी है। एलेनोर रूजवेल्ट, संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रथम महिला जो मैरी मैक्लियोड बेथ्युन की मित्र है, वे राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी.रूजवेल्ट को खतों के सम्बन्ध में जानकारी देती हैं, और सूचना देती हैं कि सेना में अश्वेत महिला डाक बटालियन बेहतरीन ढंग से अपना काम कर रही हैं जबकि वहाँ का जनरल, उनसे ये काम वापस ले लेना चाहता है।

युद्ध में डेविड अब्राहम के मारे जाने की खबर के बाद लीना ग्रेजुएशन के बाद वह सेना में भर्ती होने का फैसला लेती है क्योंकि उसे हिटलर से लड़ना है। टीवी में एक खबर आ रही–'हजारों लड़कियाँ, जिन्हें आर्मी से ट्रेनिंग और अनुशासन मिला है, वे फिलहाल देश की सेवा के लिए जंग में मौजूद हैं लेकिन देश को और लोगों की भी जरूरत है हर तरह की महिलाएँ, सेल्स गर्ल हाउस, वाइफ कारखाने में काम करने वाली लाइब्रेरियन। उन्हें अब देशभक्ति की सेवा का मौका दिया जा रहा है ''आर्मी उन्हें उनकी काबलियत के मुताबिक काम देगी।'' प्रश्न है कि क्या श्वेत फौजी अधिकारी अश्वेत वे भी महिलाओं को उनकी प्रतिभा अनुरूप काम देंगे? माँ को लगता है कि हम जैसी अश्वेत औरतों के लिए सेना में कोई जगह नहीं है, हम सिर्फ नौकरानियाँ बन सकती है। लीना को मृत प्रेमी डेविड अब्राहम समझा रहा है कि तुम यहाँ हर काम कर सकती हो और अपनी पढ़ाई भी कर सकती हो। उसकी माँ और नानी चिन्ता में हैं, तो नानी समझाती है कि इन्हें यूरोप तक न जाने दिया जाएगा वो जल्द ही लौट आएगी! एक दृश्य में जब लीना हार रही होती है तो डेविड उससे पूछता है कि तुम्हें कौन याद आ रहा है तो वह बजाय हिटलर के कैथरीन का नाम लेती है यानी उनका वास्तविक संघर्ष हिटलर से नहीं नस्लवादी क्रूर कट्टर मानसिकता से है।

फौज में होने वाले भेदभाव के संकेत सबसे पहले ट्रेन में ही मिल जाते हैं जब एक ऑफिसर गोरी लड़कियों को अलग डिब्बे में ले जाता है और अश्वेत को वापस बैठने का आदेश देता है, एक लड़की से पूछने पर तुम नहीं आओगी, वह जवाब देती है 'आप जिन लड़कियों को अलग कर रहे हैं वह व्हाइट औरतें हैं और मैं व्हाइट औरत नहीं हूँ मैं एक नीग्रो हूँ।' एक अश्वेत विद्रोही लड़की जॉनी बैल का संवाद इस नस्लवाद पर टिप्पणी करता है–'शायद हमने मेसन डिक्शन लाइन पार कर ली है, साउथ में स्वागत है लोगों को अलग करना तो यहाँ के खून में है'। एक लड़की अपने अनुभव बताती है कि उन दोनों बहनों तथा चार और लड़कियों को सिर्फ नीग्रो होने की वजह से सेलेक्ट नहीं किया गया फिर 'हमने मैरी मेक्लियोड बेथ्यून को खत लिखा जो नीग्रो महिलाओं की नेशनल कौंसिल ऑफ नीग्रो वूमेन'स की हेड है प्रेसिडेण्ट के ब्लैक कैबिनेट में है एलेनोर रूजवेल्ट की खास है'। अपने को गँवार कहे जाने पर जॉनी उस लड़की को 'मुलाटो' कहकर चिढ़ाती है। 'मुलाटो' यानी काँसे के से रंग की त्वचा, जब माता-पिता में एक श्वेत हो दूसरा अश्वेत। यह शब्द पुर्तगाली और स्पैनिश भाषा से लिया है।

आर्मी में, फोर्ट ओगल थोरपे जॉर्जिया 1944, सभी अश्वेत एक अलग ट्रक में पहुँची हैं। भेदभाव का दूसरा अनुभव, जब

आर्मी ऑफिसर अभद्रता से उन्हें नीचे उतरने का आदेश देता है विद्रोही जॉनी कहती है– 'मतलब, मैं घर से निकलकर आर्मी आयी कि कुछ सुकून मिलेगा लेकिन यहाँ भी वही सब झेलना होगा' ! तब बाकी नीग्रो सैनिक ही उन्हें उतारते हैं। फौज में तुम्हें छिछोरी हरकतें नहीं करनी चाहिए' का वह दृढ़ता से जवाब देती है 'तुम क्या कोई पादरी हो' ... मैं कुएँ से निकल के दूसरी खाई में आ गयी हूँ? क्योंकि उसका पति उसे बहुत मारता था इसलिए यहाँ आयी लेकिन इस भेदभाव से चिढ़कर वह कहती है 'मुझे उस देश की सेवा नहीं करनी जहाँ हमें कचरा समझा जाता है'। दूसरी लड़कियों से कहती है जैसे तुम्हें सिखाया गया है तुम वैसी ही रहो, मैं तो ऐसे ही रहूँगी। जॉनी बैल का कहना है कि वैसे भी सिवाय कॉटन मिल, हो... नीग्रोस भी... तुम्हें व्हाइट सिपाहियों जितनी सहूलियत नहीं मिलेगी न ही कोई मौका दिया जाएगा बल्कि तुम पर बेहतर होने का बोझ है... तुम सिर्फ अमेरिका को रिप्रजेण्ट नहीं कर रहे बल्कि अमेरिका की नीग्रोस महिलाओं की भी नुमाइन्दगी कर रही हो... यहाँ हमेशा फोटोग्राफर रहेंगे जो चाहेंगे तुम्हारी निन्दा करें क्योंकि वे नहीं चाहते कि तुम यहाँ पर रहो... हम कामयाब ना हों...हमें खुद को साबित करना है।...आपसी रंजिश यहाँ बर्दाश्त नहीं किये जाएँगे न ही बर्दाश्त की जाएगी बेइज्जती.... जिन्हें बचपन से ही जिन्दा रहने की लड़ाई करनी पड़ी हो ऐसे लोग चाहिए जिन्हें संघर्ष की आदत हो'। युद्ध का अर्थ पुरुष–उसमें भी वाइट श्रेष्ठ हैं स्त्रियों को लेकर पूर्वाग्रह कि वे कैसे युद्ध करेंगी मैंने

गोरों की नौकरानी बनने के सिवाय कोई काम ही नहीं मिलता। जॉनी में मुक्ति की आकांक्षा का चरम रूप तब दिखाई देता है जब वह अपने स्तनों पर हाथ रखते हुए उनके नाम लेते हुए कहती है 'ये है मारथा ये है मैरी और इन्हें घुटन हो रही है' !

अब उनकी हेड कमांडिंग ऑफिसर चैरिटी एडम्स जो मानती है हमारी जंग नीग्रो होने के साथ शुरू हो जाती है। वो निर्देश दे रही है 'सीधी कमर बहुत जरूरी है, चलते हुए हमेशा सिर ऊँचा होना चाहिए...' जॉनी को देखते हुए कहती है इन ड्रेसों को व्हाइट नाजुक औरतों के लिए बनाया गया था न कि नीग्रो के लिए... मैं मानती हूँ कि तुम सबको सूई-धागा का इस्तेमाल करना आता होगा... यह आर्मी है और तुम सब औरतें आज तक कोई समझदार नीग्रो नहीं देखा। उसे सुनना पड़ा है रंग और औकात के हिसाब से बात करो। इसलिए उन्हें पोस्ट का काम दिया गया चैरिटी एडम्स के कहने पर 'साले! व्हाइट मर्द!' उसकी साथी कहती है 'नीग्रो भी ऐसे ही होते हैं। इसके लिए उन्हें छह महीने दिये हैं ताकि दयालु दिखें।' अपने से जूनियर लेकिन वाइट होने के कारण उसे खुद कहना पड़ता है 'मैं कैप्टन हूँ और तुम मुझे सेल्यूट करोगे'। शिकायत करने पर जनरल कहता है 'यहाँ हम सब सिपाहियों के एक से हक हैं यह बहुत छोटी बातें हैं भूल जाइए'। उसे गर्व है कि मेरे सिपाहियों से अच्छा कोई मार्च नहीं कर सकता। लेकन सुनने को मिलता है तुमने ठीक से काम नहीं किया, मैं यहाँ एक वाइट कमांडर को लेकर आऊँगा, तो वह कहती है 'मेरी लाश से गुजरकर' 'मेरा बटालियन दिन-रात मेहनत कर रहा है, वो भी इतने बुरे हालात में, मेरे सिपाही यहाँ अन्याय सहते हैं, आपने मेरे दो सिपाहियों के अन्तिम संस्कार के लिए आर्डर तक पास नहीं किये, मैं जानती हूँ ये एक जंग है लेकिन हमारी जंग नीग्रो होने के साथ ही शुरू हो जाती है।' सभी लड़कियाँ, उसके सम्मान में ताली बजाती हैं। वह दृश्य सच में रोंगटे खड़े करने वाला है अन्त में सभी वाइट सैनिक भी उन्हें सैल्यूट करते हैं।

'सिक्स ट्रिपल एट' अश्वेत बटालियन ने हर क्षेत्र में जंग लड़ी और सफल रही, लेकिन सम्मान जिसकी वे हकदार रहीं, सिर्फ रंग के कारण उन्हें नहीं मिल पाया। फिल्म के अन्त में रियल लीना डेरीकोट (जो आज 100 वर्ष की हो चुकी हैं) खत पढ़ते हुए इसका जिक्र करती है, उनके अच्छे काम के लिए उन्हें आगे फ्रांस भेजा गया लेकिन एक बात का दुःख रहा कि हमारे इस काम को किसी ने पहचाना नहीं, शुक्रिया नहीं कहा, टिकेट टेप परेड में भी शामिल नहीं किया गया, हमारी मेहनत और शिद्दत से की गयी सेवा को कोई पहचान नहीं मिली। हाँ, हमें योरोप में ज्यादा सम्मान मिला, अब जाकर लोगों के बीच हमें हमारी पहचान मिली है हमारे काम के लिए हमें 'कोंग्रेशनल गोल्ड मैडल' मिला पृष्ठभूमि में उन लड़कियों की मैडल के साथ फोटो और एक्चुअल फुटेज मार्च करते हुए जो रोमांचित करती है। फिल्म हमारे लिए इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि फिल्म देखते हुए हमारे सामने भारत में होने वाले जातिगत भेदभाव के दृश्य अनायास सामने आ जाते हैं। मैरी मैक्लियोड बेथ्युन के संघर्ष के समकक्ष मुझे सावित्रीबाई फुले नजर आती हैं। जाति, धर्म-सम्प्रदाय प्रेम को पनपने ही नहीं देना चाहते, वह व्यक्तिगत हो अथवा सामाजिक! कार्यस्थल पर, विशेषकर महिलाओं के प्रति होने वाले भेदभाव से भी हम खुद को जोड़ पाते हैं लेकिन किसी जाति-विशेष में जन्म लेने-भर से कैसे जन्म के साथ ही संघर्ष आरम्भ हो जाते हैं इस पर फिल्म बड़ी सूक्ष्मता और गहनता से विचार करने का अवसर देती है।

■

संवाद की परम्परा का महत्त्वपूर्ण अध्याय

पुस्तक समीक्षा

दिव्यानन्द

अमर्त्य सेन जिस 'दी आग्युर्मेण्टेटिव इण्डियन' की अवधारणा इसी नाम की अपनी चर्चित पुस्तक में प्रस्तावित करते हैं; मणीन्द्र नाथ ठाकुर की पुस्तक 'ज्ञान की राजनीति' उसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए भारतीयों की तर्कशीलता की प्रवृत्ति को रेखांकित करती है। विस्मृति के इस दौर में यह पुस्तक संवाद की पुरानी भारतीय परम्परा की स्मृति कराती है। यह पुस्तक एक साथ दोहरे मोर्चे पर अपनी भूमिका निभाती है: पहली, औपनिवेशिक असर और भूलों को चिह्नित करना और दूसरी, सृजनात्मक विकल्प प्रस्तुत करना। भारत एक औपनिवेशिक देश रहा है। औपनिवेशिक देशों के कई संकट रहे हैं। सबसे बड़ा संकट यह रहा है कि उसकी स्मृति को विरूपित कर दिया जाये। ऐसी पुस्तकें औपनिवेशिकता के असर वाले गहरे अँधेरे रास्ते में रोशनी की तरह हैं। ज्ञान को लेकर 'विष्णुपुराण' में यह आग्रह प्रकट किया गया है कि–''सा विद्या या विमुक्तये।'' विद्या वही है जो मुक्त करे। अन्य विद्याएँ मात्र कौशल या शिल्प प्रदायक हैं। लेखक का प्रयास इस पुस्तक के माध्यम से उसी मुक्ति की ओर कदम बढ़ाना है। मुक्ति का आशय यहाँ किसी गैबी सन्दर्भ में नहीं है। मुक्ति का प्रस्ताव यहाँ अपने पूर्वग्रहों, निष्कर्षों और विचारधारात्मक घेरेबन्दी से बाहर आकर साँस लेने की कोशिश के अर्थ में है। यह खुले और सहज संवाद का प्रस्ताव है। एक खुली जगह हो जहाँ सभी रंगों और झण्डों को लगाया जा सके और एक नये दृश्य को सम्भव बनाया जा सके। जेल सिर्फ भौतिक अर्थों में सम्भव नहीं होता। विचारों की कैद भी एक न दिखने वाली विस्तृत और जटिल जेल है। यह पुस्तक मुक्ति की बात इन्हीं छोटे-बड़े खानों से बाहर निकलकर सोचने के इसरार के साथ करती है। सबके अपने सच हैं। सबके अपने निकष हैं। किसी की अवहेलना या किसी को छोटा समझे बगैर यह कहना कि सबका सच महत्त्वपूर्ण है लेकिन उससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि उनके बीच संवाद हो। संवाद का यह आग्रह भारतीयता का आग्रह है। वह तत्त्व संवाद ही रहा होगा जिससे यहाँ दर्शन की कई

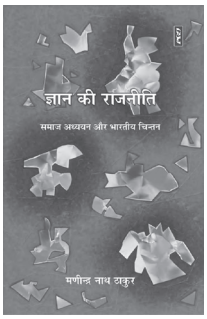

ज्ञान की राजनीति
लेखक :
मणीन्द्र नाथ ठाकुर
प्रकाशक :
सेतु प्रकाशन,
नोएडा
मूल्य : ₹ 350/-

शाखाएँ विकसित हुईं। इस पुस्तक के माध्यम से लेखक भारत की उस सुदीर्घ परम्परा को पोषित करते हैं। पुस्तक विच्छिन्नता और एकांगिकता की जगह, पूर्णता की खोज की आवश्यकता और उसकी प्रतिष्ठा का आग्रह करती है। यह आग्रह ज्ञान-विज्ञान के अब तक के हुए प्रयासों से एक जवाबतलबी है और आगे की योजना को लेकर प्रस्ताव भी। आधुनिकता प्रश्नों से परे नहीं है। उत्तर-आधुनिक चिन्तन की बुनियाद ऐसे ही प्रश्नों से साकार होती है। आधुनिक चिन्तन और पश्चिमी चिन्तन की आपसी पर्यायता के रूढ़ आशय से टकराने और उसे बदलने का उद्यम हमें 'ज्ञान की राजनीति' में दिखाई देता है। समाज विज्ञान के शास्त्रों की रचना में कई ऐसे स्रोतों की लगभग अवहेलना है जो अनिवार्य थे। लेखक अपनी इस पुस्तक में उन स्रोतों की ओर लौटने की अपील करते हैं। इसमें भावुकता नहीं है। ज्ञान का संसार सुविधामूलक स्रोतों के चयन से नहीं बन सकता। लेकिन इसके बहुतेरे प्रयास हुए हैं। और वे युगों तक स्थापित भी रहे हैं। भारत जैसे अन्य औपनिवेशिक देशों को इसका ऐतिहासिक अनुभव रहा है। 'ज्ञान की राजनीति' उसकी याद दिहानी करती है और ऐसे सभी प्रयासों को नकारकर एक नयी शुरुआत की तरतीब करती है। यह पुस्तक अनुशासनिक दृष्टि से समाज विज्ञान की है लेकिन इसकी सार्थकता विषयों की सँकरी गली से परे है।

भारतीय अकादमिक संसार में समाज विज्ञान वर्षों से अँग्रेजी का मुखापेक्षी रहा है। भारतीय भाषाओं में भी लिखे जाने के उदाहरण मिलते ही हैं लेकिन समाज विज्ञान के लेखन की मुख्यधारा अँग्रेजी से ही बनी हुई है। ऐसे में मणीन्द्र नाथ ठाकुर का उद्यम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का स्मरण कराता है जिन्होंने हिन्दी में 'ज्ञानराशि के संचित कोष' का आह्वान किया था और उसके लिए अथक प्रयास किया। हिन्दी साहित्य के साथ-साथ अन्यान्य अनुशासनों की भाषा बने, इसके लिए हिन्दी में साहित्येतर लेखन की कितनी और कैसी आवश्यकता है; यह बताने की जरूरत नहीं है। 'ज्ञान की राजनीति' जैसी पुस्तक 'ज्ञानराशि' के उन्हीं ऊबड़-खाबड़ रास्तों को हमवार कर रही है। ऐसे प्रयासों का दायरा भाषा और ज्ञान तक सीमित नहीं है। इसका आशय विशाल हिन्दीभाषी जनता के शिक्षण से जुड़कर लोक-जागरण की सीमा तक पहुँच जाता है। ज्ञान अगर सर्वसाधारण तक पहुँच पा रहा हो तो वह जनसेवा का रूप ले लेता है। इस पुस्तक के लेखक ने अपूर्वानन्द के प्रति आभार प्रकट किया है जिन्होंने लेखक को ''हिन्दी में लिखने के लिए न केवल प्रेरित किया, बल्कि बतौर 'आलोचना' के सम्पादक इनके दो लेखों को प्रमुखता से छापा भी।'' कई और पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ इस पुस्तक के कई अंश संवेद और 'सबलोग' पत्रिका में भी छपे हैं। समाज अध्ययन और भारतीय चिन्तन के सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए पुस्तक में कई जगहों पर विचारों की आवृत्ति हुई है। यह आवृत्ति विचारों के वलय को कमजोर करती है। सामग्री की अतिशय विविधता के उपयोग के लोभ के कारण पुस्तक का केन्द्रीय विषय प्रकाशित होने की जगह ओझल होने लगता है। ऐसा लगता है जैसे बहुत सारी सामग्री इकट्ठी तो हो गयी लेकिन लेखक उनके समुचित उपयोग का प्रबन्धन नहीं कर पा रहा। अगले संस्करण में इन पक्षों को सम्पादित किया जा सकता है।

इस पुस्तक को 'प्रिय छात्रों और शिक्षकों को समर्पित' किया गया है। आसान भाषा में कहा जाये तो यह समर्पण ज्ञान-परम्परा को है। व्यक्तिगत को सामाजिक करने का यह विनम्र कौशल अनुकरणीय है। यह प्रथम 'रामचन्द्र खान सामाजिक-विज्ञान पुरस्कार' प्राप्त कृति भी है।

लेखक जे.पी. कॉलेज, नारायणपुर (भागलपुर) में प्राध्यापक हैं।
+918332997175
angiradevmp@gmail.com

■

यदा-यदा ही धर्मस्य

श्रीकान्त आप्टे

लिए लुकाठी हाथ

बाबा जी की गुरु-गम्भीर वाणी गूँजी–

यदा-यदा ही धर्मस्य
ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमअधर्मस्य
तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

फटे बाँस जैसी आवाज को बाबा जी ने बड़ी मेहनत से ऐसे साधा है कि वह गुरु-गम्भीर वाणी का आभास दे। धन्धे में मेहनत तो करनी ही पड़ती है। बाबा जी जिस मंच पर विराजमान हैं उसकी पृष्ठभूमि को दोने, पत्तलों से ऐसे सजाया गया है ताकि वह पर्णकुटी का आभास दे। आभासी दुनिया के आभासी बाबा और उनका प्रवचन पण्डाल। वी. वी.आई.पी. और वी.आई.पी. भक्तों के लिए मंच के पास आरामदेह कुर्सियाँ। भक्तों की शेष रेवड़ पिछली कतारों में। और मैं, भीड़ से दूर पण्डाल के एक कोने में खड़ा।

बाबा जी ने यदा, यदा ही धर्मस्य... श्लोक का अर्थ समझाना चालू किया, 'हे भारत! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पापियों का विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युगों-युगों में प्रकट हुआ करता हूँ।'

बाबा जी ने ऊपर आकाश की ओर देखा फिर नीचे बैठे भक्तों पर नजर डाली और उच्च स्वर में बोले, 'हरिओऽम!' भक्त तो भक्त ठहरे। भक्तों ने बाबा का अनुसरण किया और सारा पण्डाल गूँज उठा, 'हरिओऽम'। भक्तों का यही काम है कि जो जैसा कहा गया है उसे वैसा ही स्वीकार करो और मस्त रहो। वे क्या, क्यों, कब, कैसे-जैसे सवालों के झमेले में नहीं पड़ते। बल्कि ऐसे सवाल करने वालों के पीछे जरूर पड़ जाते हैं। यहाँ तो बाबा जी महाभारत का प्रसंग भक्तों को सुना रहे थे। कुरुक्षेत्र में तो साक्षात् श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता का ज्ञान दे रहे थे। और अर्जुन, 24 कैरेट का श्रीकृष्ण भक्त। जो भक्तों का हाल वही हाल अर्जुन का।

मैं अक्सर सोचता हूँ कि अगर अर्जुन भक्त न होकर केवल श्रीकृष्ण का सखा, धनुर्धर होता तो क्या होता? तब शायद वह भी क्या, कब, कहाँ, कैसे-जैसे सवाल पूछता श्रीकृष्ण से। अर्जुन इसी श्लोक को लेकर इतने सवाल करता कि भगवान श्रीकृष्ण की हालत हमारे जाँच कमीशनों और अदालतों जैसी हो जाती। सालों बीत जाते उन सवालों के जवाब देने में। दोनों तरफ खड़ी पाण्डवों और कौरवों की सेना के योद्धा बुढ़ा जाते। कितने सैनिक और सेनापति तो रिटायर हो जाते। दोनों पार्टियाँ प्रवचन सुनने में मगन हो जातीं। निरन्तर बिना लड़े आमने-सामने खड़े उनमें दोस्ताना पनप जाता। उनमें कुछ लड़ाई-लड़ाई माफ करो, गद्दी का रास्ता साफ करो की सलाह देते। कोलिशन गवर्नमेण्ट की सम्भावना पर विचार होने लगता। महाभारत का युद्ध तो टल ही जाता। पर नहीं टला महाभारत का युद्ध। भक्त अर्जुन ने उठाया धनुष और टूट पड़ा कौरवों पर। उसे सवाल करने की आदत जो नहीं थी।

मैं इधर सोच में डूबा हुआ था और उधर बाबा जी का प्रवचन जारी था। भक्त मगन थे प्रवचन श्रवण में। धर्म और आस्था के सुमन्दर में डूबते-उतराते भक्त। उनके बीच मैं अकेला, किनारे की ठोस जमीन पर खड़ा-अधम और अधर्मी। मैं उस श्लोक से मेरे मन में उठते सवालों पर सोच रहा था। यदा-यदा ही धर्मस्य श्लोक पर मेरे मन में अक्सर सवाल उठा ही करते हैं।

कई प्रश्न हैं–भगवान के प्रकट होने के लिए अधर्म की वृद्धि और धर्म की हानि दोनों आवश्यक हैं या केवल एक का हो जाना पर्याप्त है? अधर्म बढ़ गया है की घोषणा के लिए अधर्म का कितना बढ़ना जरूरी है? नापने का पैमाना क्या होगा? कितनी हानि को धर्म की हानि माना जाएगा? बीमावालों की भाषा में कहें तो क्या केवल टोटल लॉस को लॉस माना जाएगा? अगर नहीं तो कितने पर्सेंट लॉस को धर्म की हानि माना जाएगा? जिन साधुओं का उद्धार होना है और जिन पापियों का नाश होना है उनको साधु या पापी घोषित करने का अधिकार किसके पास होगा? यह काम केन्द्र सरकार करेगी या राज्य सरकारों को भी इसका अधिकार होगा? केन्द्र में जिसकी सरकार है केवल उसके लोग साधु माने जाएँगे या विपक्ष के लोगों को भी साधु वाले संरक्षण का अधिकार होगा? धर्म की स्थापना हो गयी यह कौन बताएगा? यह काम सरकार खुद करेगी या इसे प्राइवेट सेक्टर को सौंप दिया जाएगा? टोटल कंफ्यूजन है, बस एक बात को छोड़कर। प्राइवेट सेक्टर को यदि यह काम दिया गया तो यह किसे दिया जाएगा इसको लेकर कोई कंफ्यूजन नहीं है।

प्रवचन समाप्त हो गया था। भक्त प्रस्थान की तैयारी में थे। भक्तों के बीच एक मैं, अधम और अधर्मी। पेट में गुड़गुड़ाते सवालों से परेशान। मैंने भीड़ के बीच खड़े होकर ऊँची आवाज में कहा, 'बाबा जी मेरे कुछ प्रश्न हैं।' मैंने अपने वही प्रश्न पूछे।

'घोर कलयुग, हिन्दू धर्म और संस्कृति का ऐसा अपमान!' बाबा जी ने क्रुद्ध स्वर में कहा।

उसके बाद क्या हुआ? वही जो ऐसे में होता है। भक्तों की भीड़ टूट पड़ती मुझ पर लेकिन जैसे-तैसे मैं वहाँ से निकल भागा।

पण्डाल से दूर एक पुलिया पर बैठ मैं अपनी साँसें काबू में करने लगा। वहीं पुलिया पर बैठा एक बूढ़ा आसमान की ओर देखकर बोला, 'हे प्रभु! तू अभी भी प्रकट नहीं होगा तो फिर कब प्रकट होगा रे दयानीधान!'

लेखक व्यंग्यकार, स्तम्भकार,
नाटककार एवं चित्रकार हैं।
+919179990388
shrikant1953@gmail.com

■

रंगसाज

आग और मिट्टी के साथ आकार

आप उन्हें सिरेमिकिस्ट कह सकते हैं। मैं उन्हें आकार का जादूगर कहता हूँ। वह मिट्टी के व्याकरण को महसूस करते हुए अपने मन को मुलायम करते हैं और फिर मिट्टी के लोच की ताकत को परखते हुए आकार देते हैं। सूरज गोरई की कला यहीं से आरम्भ होती है।

देव प्रकाश चौधरी

सिरेमिक कला इतिहास के कई कालखण्डों में बँटी और परम्परा में डूबी हुई है। हजारों सालों से इंसान मिट्टी के बहुमुखी गुणों का इस्तेमाल करते हुए ऐसी चीजों को आकार देता रहा है, जिसमें जीवन के लिए जरूरी चीजों से लेकर बेहतरीन कलाकृतियाँ तक शामिल हैं।

मिट्टी के व्याकरण को महसूस किये बिना सिरेमिक कला को समझ पाना कठिन है। मुलायम हो जाना मिट्टी का शाश्वत गुण है और लोच प्राकृतिक ताकत। कलाकार को भी अपना मन मुलायम करना पड़ता है। इसके बिना मिट्टी को आकार दे पाना सम्भव नहीं। इसी मुलायम मन से सिरेमिक कलाकार की यात्रा शुरू होती है। लगभग सभी विकसित संस्कृतियों में सिरेमिक कला का एक लम्बा इतिहास है। आकार के साथ सतह पर पाया जाने वाला ग्लेजिंग इस कला में बेहद महत्त्वपूर्ण है।

आकारहीन मिट्टी को नया जीवन देते हुए, सिरेमिक की कला आपकी आँखें को एक लय से बाँधती हैं। सौन्दर्य की दृष्टि से मनभावन और दैनिक जीवन में उपयोगी होने के साथ-साथ, ये हस्तनिर्मित आकार खाली स्पेस को कुछ ऐसे भरते हैं, जिनसे घर खिल उठता है। लेकिन अगर इस कला के भौतिक पक्ष को देखते हुए आप इसके परे देखने की कोशिश करते हैं तो आपको आग और मिट्टी के रिश्ते को भी समझना होगा। सिरेमिक कला आग के बिना अधूरी है।

मिट्टी को ढलते और आकार लेते देखना कितना सुकुन भरा है यह किसी सिरेमिक कलाकार के स्टूडियो में जाने के बाद ही पता चलता है। सिरेमिक कला की रचना-प्रक्रिया पर कलाकार सूरज गोरई से उनकी प्रदर्शनी में लम्बी बातचीत हुई। प्रदर्शनी दिल्ली के एकेडमी ऑफ फाइन आर्ट्स एण्ड लिटरेचर में लगी हुई थी।

विश्वभारती विश्वविद्यालय से कला की शिक्षा प्राप्त करने वाला यह कलाकार इन दिनों खुर्जा में रहकर सिरेमिक कर्म में तल्लीन है। जनपद बुलन्दशहर का खुर्जा पॉटरी उद्योग पूरी दुनिया में मशहूर है। जाहिर है इस कला-कर्म के लिए यहाँ सुविधाएँ हैं और माहौल भी। कलाकारों के लिए बाजार का रास्ता भी यहीं से खुलता है।

अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में बात करते हुए सूरज कहते हैं–''जब मैं कुछ नया बनाने बैठता हूँ, तो मेरे पास कोई तय विचार नहीं होता कि मैं क्या बनाने जा रहा हूँ। मैं मिट्टी से पहले जरूर कोई एक आकृति बना सकता हूँ, या एक छोटा-सा स्लैब रोल करके उसे अपनी पसन्द के आकार में मोड़ सकता हूँ, लेकिन उसके बाद मिट्टी हावी हो जाती है। जैसे-जैसे रूप विकसित होता है, विचार उभरते हैं।''

लेकिन इस कला-यात्रा में ऐसा भी नहीं है कि जाना था जापान और पहुँच गये चीन। रूप विकसित होने के बाद विचार का उभरना कला सृजन के लिए एक जरूरी तत्त्व है और एक कलाकार इस प्रक्रिया में खुद को समृद्ध होते देखता है।

सूरज कहते हैं, ''मैं रंग और आकृतियों के साथ ऐसी बातें कह सकता हूँ, जिसे मैं किसी और तरीके से नहीं कह सकता था। ऐसी बातें जिनके लिए मेरे पास कोई शब्द नहीं थे।''

निर्माण-प्रक्रिया के दौरान छोटी-छोटी घटनाओं के माध्यम से एक छोटा विचार दूसरे में प्रवाहित होता है। यह प्रक्रिया सतत है। कलाकार आकार से खेलता है। लेकिन सिरेमिक कला की कुछ तकनीकें हैं, जो इसे दूसरी मिट्टी की कला से अलग करती है। मूल यहाँ भी मिट्टी ही है। मिट्टी को आकार देकर फिर उन्हें ओवन में पकाया जाता है, जिससे यह टिकाऊ हो जाता है। मिट्टी को पकाने से पहले अक्सर प्लास्टिक या धातु जैसी अन्य सामग्रियों के साथ मिलाया जाता है। कुछ सिरेमिक कलाकार हाथ से बनाते हैं, जबकि कुछ व्हील-थ्रोइंग मशीनों पर काम करते हैं। सिरेमिक पॉट में एक ग्लेज भी होता है। सूरज कहते हैं–''ये रासायनिक पदार्थ होते हैं। अलग-अलग कलाकार सुविधानुसार इसका प्रयोग करते हैं। सिरेमिक कला में रंग डालने के लिए, धातु ऑक्साइड और धातु काबोर्नेट से बने रंगद्रव्यों का इस्तेमाल किया जाता है।''

कुल मिलाकर देखें तो सिरेमिक की दुनिया सिर्फ बर्तनों तक सिमटी हुई नहीं है। अगर इसे बनाते हुए कलाकार मिट्टी के साथ खेलते हुए एक और अच्छे दिन की शुरुआत मान सकता है तो इसे देखने वालों के लिए यह यात्रा उस अनजाने सफर की तरह है, जहाँ हर पल कुछ नया है बेहद नया।

लेखक वरिष्ठ पत्रकार, व्यंग्यकार एवं कलाकार हैं।
+91 7838300890, *choudharydeoprakash@gmail.com*

TARU

तरू

खेत, किसान और कृषि आजीविका

'तरू' उत्साही एवं जानकार लोगों की टीम है जिनका मिशन है,
टेक्नोलॉजी के ज़रिये कृषि सशक्तीकरण और टिकाऊ खेती की ओर किसानों को प्रेरित करना।

TARU

+91 96112 44553
linkedin.com/company/taru.ag/
info@taru.ag
facebook.com/taru.agri/